सायण और दयानन्द

लेखक

मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०

प्रणेता—आस्तिकवाद, जीवात्मा, अद्वैतवाद, मनुस्मृति, जीवन-चक्र, शांकर-भाष्यालोचन, आर्यसमाज, विधवा-विवाह-मीमांसा, सर्व-दर्शन-सिद्धान्त-संग्रह, शंकर-रामानुज-दयानन्द, हम क्या खावें? कम्युनिज्म, आर्योदय काव्यम्, धम्मपद, आर्य-स्मृति, भगवत् कथा आदि

कला प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

१६५७

मूल्य तीन रुपया

मुद्रक तथा प्रकाशक—विश्वप्रकाश, कला प्रेस, इलाहाबाद—३

प्राक्कथन

वेदों को धर्मशास्त्र मानने वाले भारतवर्ष में दो वर्ग हैं। एक जो अपने को सनातनधर्मी कहते हैं, दूसरे जो अपने को आर्यसमाजी कहते हैं। सनातनधर्मी स्वामी दयानन्द को छोड़कर सभी पुराने ऋषियों, आचार्यों या भाष्यकारों को मानते हैं। आर्यसमाजी स्वामी दयानन्द को वैदिक धर्म का संशोधक और उद्धारक स्वीकार करते हैं। इन दो वर्गों को छोड़कर शेष जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसल्मान आदि वेदों की अवहेलना ही नहीं अपितु निन्दा करते हैं। उनकी दृष्टि में वेदों में देवी-देवताओं की झूठी और कल्पित गाथायें हैं। वेदों का इन्द्र व्यभिचारी, अत्याचारी, गायों और भैंसों को खाने वाला है। जिन भाष्यों को सनातनधर्म आदर की दृष्टि से देखता है उन सब में ऐसी बातें मिलती हैं। स्वामी दयानन्द ने इन भाष्यों का तिरस्कार करके वेदों के अर्थों को इन लांछनों से मुक्त करने का प्रयास किया है। परन्तु सनातनधर्मी स्वामी दयानन्द के इस प्रयास को अप्रमाणिक तथा काल्पनिक समझते हैं।

यदि स्वामी दयानन्द का तिरस्कार कर दिया जाय तो इसका निकटतम और अवश्यम्भावी परिणाम यह है कि वेद अश्लील प्रथाओं

और अमानुषिक भावनाओं के ग्रन्थ सिद्ध हो जाते हैं और सनातन धर्म की नींव सर्वथा खिसक जाती है। न गीता माननीय रहती है, न दर्शन, न उपनिषदें, न स्मृतियाँ, क्योंकि यह सब वेद मूलक हैं। सनातनधर्म की मान्यताओं में कई सामाजिक कुप्रथायें भी हैं, जैसे बाल-विवाह, बहु-विवाह, अस्पृश्यता, विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध आदि जिनको आजकल के वैज्ञानिक युग का सनातनधर्मी भी सिद्धान्त रूप से छोड़ चुका है। अतः यह आवश्यक है कि वेदों के विषयों का फिर से अध्ययन किया जाय। हमने इस पुस्तक में यह दिखलाया है कि पुराने भाष्यकारों विशेषकर सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द में मुख्य भेद 'दृष्टिकोण' का है। यदि यह भेद समझ में आ जाय तो शाब्दिक भेदों का समन्वय तो किया जा सकता है। वैदिक संस्कृति को पुनर्जीवित करने का एक मात्र उपाय यही है कि आर्यसमाजी और सनातनधर्मी मिलकर उन आक्रमणों का निरास करें जो वेद विरोधियों की ओर से हो रहे हैं। अब लकीर का फकीर होने से तो काम नहीं चलता। यदि वेदों को छोड़ दिया जाय तो मानव जाति के अति प्राचीन काल से प्रचारित बहुत से अमूल्य रत्नों से हाथ धोना पड़ेगा। क्योंकि बौद्ध हों या जैन, ईसाई हों या मुसल्मान इन्होंने वेदों का तिरस्कार करके उनके स्थान में कोई ऐसी चीज़ नहीं दी जो वैदिक सिद्धान्तों की तुलना कर सकती। इसीलिये कई सहस्र वर्षों से न तो लोग वेदों पर स्थिर रहे और न वेदों के स्थान में कोई उच्चतर वस्तु दे सके। अतः जो सुधारक या धर्माचार्य भिन्न-भिन्न देशों या युगों में उत्पन्न हुये उन्होंने कोई स्थायी वस्तु नहीं दी।

सम्प्रदायों की संख्या तो बढ़ती रही, परन्तु इससे मानव जाति का एकीकरण न हो सका ।

स्वामी दयानन्द ने वेदों के सम्मान को एक दृढ़तर भूमिका (नीव) प्रदान करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक के पढ़ने से यह बात कुछ-कुछ ज्ञात हो सकेगी। पुस्तक छोटी है। नमूना मात्र है। हम यह नहीं कहते कि जो कुछ स्वामी दयानन्द ने कहा है उससे तद्वत् मान लीजिये। हमारा बल तो 'दृष्टिकोण' पर है। जब दृष्टिकोण एक हो गया तो शेष भेद दूर किये जा सकते हैं। इस विषय में आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियों दोनों की उदारता अपेक्षित है। यह आवश्यक नहीं है कि हम स्वामी दयानन्द के प्रत्येक शब्द को स्वीकार करें। स्वामी दयानन्द भी ऐसा उपदेश नहीं देते। वह तो पुराने से पुराने पाणिनि और यास्क आदि वेद के विद्वानों का भी आँखें मींच कर अनुसरण नहीं करते। वह निम्बार्क न्याय के पक्षपाती हैं, अर्थात् जैसे कोई कहे 'देखो चाँद नीम के वृक्ष के ऊपर है' तो इसका केवल इतना तात्पर्य है कि यदि तुम अपना मुख नीम के वृक्ष की ओर करो तो चाँद दिखाई देगा। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द कहते हैं कि यदि तुम पाणिनि या यास्क की ओर देखोगे तो वेदों का प्रकाश मिलेगा। जैसे चाँद को ठीक-ठीक देखने वाला नीम के वृक्ष की ओर मुँह करके नीम के बहुत आगे की ओर दृष्टि डालता है और नीम तक ही उसकी दृष्टि परिमित नहीं रहती, इसी प्रकार पूर्व के ऋषि मुनियों के ग्रन्थों को पढ़ कर हम दृष्टिकोण बना सकते हैं। यह तो निश्चित ही बात है कि यास्क और

पाणिनि आदि ने अपने-अपने समय के अनुसार विषयों का निरूपण किया होगा और जो विचार उनके युगों में प्रथित थे उन्हीं को दृष्टि में रख कर समाधान किया होगा। इनसे पूर्व भी वैदिक संस्कृति लाखों वर्ष का जीवन व्यतीत कर चुकी थी। अतः हमको इस विषय में अपनी खोज जारी रखनी चाहिये। सम्भव है कि वैदिक सूर्य के प्रकाश की प्राप्ति में हमको बहुत दूर तक जाना पड़े, परन्तु इससे मानव जाति को लाभ ही होगा। हम दयानन्दी नहीं हैं। स्वयं दयानन्द जी दयानन्दी न थे। परन्तु स्वामी दयानन्द ने एक अपूर्व मार्ग का निर्देश किया है। हमको निष्पक्ष होकर इसका मूल्य आँकना है। सम्भव है कि स्वामी दयानन्द का अर्थ हमको अनिश्चित, अपूर्ण या असन्तोषप्रद प्रतीत हो। यह भी सम्भव है कि हम यास्क और पाणिनि की मान्यताओं को भी वेदों के अध्ययन की दृष्टि से अपूर्ण समझें। परन्तु इस मार्ग का अनुसरण कर के हम अधिक उत्कृष्ट ध्येय की प्राप्ति कर सकेंगे। जिस प्रकार चाँद तक पहुँचने के लिये हमको न केवल नीम के वृक्ष अपितु पहाड़ों की चोटियों के भी आगे दृष्टि दौड़ानी है, इसी प्रकार वेदार्थ समझने के लिये हमको अष्टाध्यायी, निरुक्त, ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि-आदि के भी आगे दृष्टि डालनी पड़ेगी। स्वामी दयानन्द का सिद्धान्त यह है कि वेद स्वतः प्रमाण और स्वयं-सिद्ध हैं। अन्य सब ग्रन्थ परतः प्रमाण हैं। स्वामी दयानन्द के भाष्य भी परतः प्रमाण की कोटि में ही आते हैं। अतः हमको छुई-मुई होकर घबराना नहीं चाहिये यदि स्वामी दयानन्द के भाष्य पर कोई टीका-टिप्पणी की जाय। हमें तो गवेषकों का ध्यान उस शैली की ओर आकर्षित करना है जिसको

त्याग कर हम सत्यमार्ग से विचलित होकर वेदोपदेश के लाभ से वंचित हो रहे हैं।

वेदों के विषय में कई प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। जैसे—

(१) क्या वेद मन्त्रों में मिलावट नहीं हुई ?

(२) भिन्न-भिन्न पाठभेदों का क्या कारण है ?

(३) क्या वेद के सूक्तों और मन्त्रों का क्रम प्राचीनकाल में भी वही था जो आजकल है ? इत्यादि-इत्यादि।

इनके विषय में अन्वेषण करना है जिसके लिये बहुत काल तथा बहुत से साधनों की अपेक्षा है। इधर स्वामी दयानन्द के पश्चात् आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा वेदों अथवा वेदांशों के कई भाष्य हो चुके हैं जो स्वामी दयानन्द की शैली का अनुसरण करते हैं। यह प्रयास तो शुभ प्रयास है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि जटिल प्रश्नों का समाधान हो गया। त्रुटियों का सब से बड़ा कारण है साधनों का अभाव और जल्दी। एक प्रकाशक एक विद्वान् को वेद भाष्य करने का ठेका देता है। उसे नियत समय पर पुस्तक का नियत भाग तैयार करना है। इस जल्दी में इतना समय नहीं मिलता कि हर बात पर पूर्णतया विचार किया जा सके। स्वामी दयानन्द के लिये भी यही बात है। अतः हमको निष्पक्ष भाव से शैली पर विचार करना है। मार्ग, मार्ग है उद्देश्य नहीं। मार्ग में कूड़ा-करकट भी मिलता है परन्तु यात्री की आँख उद्देश्य की ओर लगी होती है और वह मार्ग के अन्य दोषों की उपेक्षा करके आगे बढ़ता है। हमको भी यही करना है। आर्यसमाज और सनातनधर्म के विद्वानों के बीच की खाई को

पाटना है उसे अधिक चौड़ा नहीं करना। यदि हम सायण और दयानन्द की कृतियों पर इस दृष्टि से विचार करेंगे तो वैदिक संस्कृति के उद्धार के विषय में अधिक सफलता प्राप्त होगी। हमारा अन्तिम लक्ष्य है मानव जाति का हित। वेद इस लक्ष्य की कहाँ तक पूर्ति करते हैं यह दूसरा प्रश्न है। और वेदों को ठीक-ठीक समझने के लिये हमको सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द से क्या-क्या सहायता मिलती है, यह है तीसरा प्रश्न।

इस पुस्तक में सभी बातों का उल्लेख नहीं हो सकता। इसके लिये बहुत बड़ा ग्रन्थ चाहिये। इस पुस्तक के लेखक का ज्ञान और साधन दोनों अत्यल्प हैं और इतने बड़े कार्य के लिये पर्याप्त नहीं हैं। तथापि यहाँ जो कुछ लिखा गया है दिग्दर्शन मात्र है।

—गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

		पृष्ठ
अध्याय १—	कुछ आरम्भिक बातें	१
अध्याय २—	समता	११
अध्याय ३—	वेद और ब्राह्मण	२१
अध्याय ४—	यौगिक, योगरूढ़ि और रूढ़ि	३४
अध्याय ५—	विनियोग और भाष्य का सम्बन्ध	५९
अध्याय ६—	यजुर्वेद के पहले मंत्र की साक्षी	१०६
अध्याय ७—	यौगिक व्युत्पत्तियों पर सायण की श्रद्धा	११७
अध्याय ८—	व्यक्तिवाचक संज्ञायें	१२५
अध्याय ९—	वैदिकी हिंसा, अश्वमेध, गोमेध आदि	१४३

कुछ प्रारम्भिक बातें

आचार्य सायण वेद के भाष्यकारों में सबसे प्राचीन, सबसे प्रसिद्ध और सबसे अधिक कीर्तिमान हैं। विदेशीय भाषाओं के विद्वानों ने वेदों के अध्ययन में इन्हीं से शिक्षा ग्रहण की है और इन्हीं के आधार पर अपने लेख, या भाष्य किये हैं। जहाँ कहीं उनकी नवीन कल्पनायें हैं उनका एकमात्र आधार तो सायण ही हैं। कुछ अन्य भाष्यकारों के नाम अथवा उनकी कृतियों के भग्नावशेष उपलब्ध हो रहे हैं, परन्तु अभी यह कहना कठिन है कि वह सायण के पूर्वज थे या अपरज, अथवा इनका सायण के साथ कालिक या साम्प्रदायिक सम्बन्ध क्या था? हम निश्चित साधनों के अभाव में उनके विषय में कुछ कहना नहीं चाहते। सायण ने ऋग्वेद, मंडल ६, सूक्त १ के तेरहवें मंत्र की व्याख्या में 'भरत स्वामी' और 'भट्टभास्कर' मिश्र का नाम दिया है। परन्तु इनके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

नवीन युग के भाष्यकारों में प्रसिद्धतम और विशिष्टतम स्वामी दयानन्द हैं, जो आर्य समाज नामक प्रसिद्ध संस्था के प्रवर्तक हैं। इनका दृष्टिकोण, इनकी शैली और इनके सिद्धान्त

सर्वथा भिन्न हैं। यह सायण का न केवल अनुसरण ही नहीं करते अपितु मौलिक रूप में उनका खण्डन करते हैं। स्वामी दयानन्द की विद्वत्ता और कुशाग्र-बुद्धिमत्ता से प्रभावित होते हुये भी आधुनिक वेद के विद्वानों ने स्वामी दयानन्द को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार वेद के प्रेमियों को आजकल दो दलों में विभक्त किया जा सकता है। एक, आर्य समाज के मानने वाले, या उससे सहानुभूति रखने वाले, जो सायण को भ्रान्तिपूर्ण, सर्वथा दोष युक्त और पथ-भ्रष्ट मानते हैं। दूसरे, वे लोग जो सायण के शत-प्रति-शतक पक्षपाती हैं और स्वामी दयानन्द के भाष्य को कपोल-कल्पना या खींचातानी समझते हैं।

साधारण आर्यसमाजी समझता है कि सायणाचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी, यास्क के निरुक्त या निघण्टु से परिचित न थे और न उन्होंने वेद भाष्य का आधार इन प्राचीन ग्रन्थों को माना। उन्होंने केवल पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर ही मंत्रों का भाष्य कर दिया। जिन्होंने सायण-भाष्य का अवलोकन किया है (और आर्यसमाज में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं) वे जानते हैं कि सर्वसाधारण की यह धारणा निराधार है। सायण-भाष्य में पाणिनि के सूत्रों तथा यास्क के वचनों की भरमार है। सायण की इन मौलिक ग्रन्थों पर श्रद्धा है। इस विषय में सायण के भाष्यों में वेद को समझने के लिये पर्याप्त सामग्री विद्यमान है जो स्वामी दयानन्द के भक्तों के लिये भी मूल्यवान सिद्ध हो सकती है। फिर भी स्वामी दयानन्द

का सायण-विरोध निराधार नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि सायण दयानन्द से सर्वथा विरुद्ध हैं या दयानन्द सायण से। यदि यह दोनों आचार्य समकालीन और सहयोगी होते तो कदाचित् उनके विचारों में इतना आकाश-पाताल का भेद न पड़ता।

पहली बात तो यह है कि वैदिक-संस्कृति के इतिहास को देखे सायण भी नवीन ही हैं, प्राचीन नहीं। अस्सी-पचासी वर्ष के बुड्ढे के लिये २ वर्ष का बच्चा भी बच्चा है और ५ वर्ष का भी। जिस संस्कृति का इतिहास सृष्टि के आरंभ तक जाता हो, और सृष्टि की आयु करोड़ों वर्षों से भी अधिक मानी जाती हो, उसकी दृष्टि में विक्रम की बीसवीं शताब्दि में उत्पन्न स्वामी दयानन्द या कुछ शताब्दियों पूर्व जन्मे हुये सायणाचार्य, दोनों नवीन ही हैं। यास्क और पाणिनि की अपेक्षा भी इनकी गणना अति-नवीन युग-वालों में होगी, यद्यपि यास्क और पाणिनि दोनों ने अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है कि अपने काल में वह भी अति प्राचीन न थे और उनसे पूर्व भी कुछ आचार्य हो चुके थे जिनके अनुकरण करने की उहोंने चेष्टा की है।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।

अतः सायण और दयानन्द के तुलनात्मक अध्ययन के जिये विद्वानों को उदारता और स्वतंत्रता से काम लेना होगा और अपने मस्तिष्क को खुला रखना होगा।

सायणाचार्य के भाष्य कम चारों वेदों पर मिलते हैं। शुक्ल

यजुर्वेद की काण्वशाखा पर सायण-भाष्य हैं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा पर नहीं। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा पर पुराने दो भाष्य उव्वट और महीधर के हैं, जो लगभग एक से हैं और सायण से पुराने नहीं। दयानन्दाचार्य के भाष्य चारों वेदों पर नहीं। ऋग्वेद भाष्य केवल सातवें मण्डल के ६१ वें सूक्त तक है और यजुर्वेद-भाष्य पूरा है। यह भाष्य भी मासिक पत्रिकाओं के रूप में छपते थे। बीच में आचार्य के देहावसान के कारण कार्य अधूरा रहगया और भाष्यकार को उनके पुस्तक-रूप देने का अवसर भी नहीं मिला। परन्तु भाष्य करने से पूर्व उन्होंने एक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम है *ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका*। यह स्वयं एक मौलिक ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने अपने मुख्य सिद्धान्तों की निरुक्ति की है। यह तालिका है दयानन्द-मत-कोश की। भाषा में जहां कहीं त्रुटियाँ प्रतीत होती हों उनको समझने के लिये 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' से पुष्कल प्रकाश ग्रहण किया जा सकता है।

आचार्य सायण और आचार्य दयानन्द के युगों में भिन्नता है, परिस्थितियों में भिन्नता है और साधनों में भी भिन्नता है। इसलिये दृष्टि-कोण और शैली में भी भिन्नता होना स्वाभाविक ही है।

पहले, युग-भेद पर विचार कीजिये। सायण के काल में संस्कृत भाषा का अधिक प्रचार प्रतीत होता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के मर्मज्ञ या कम से कम अध्येता अधिक थे। जनता में

वेद-शास्त्रों के लिये मान भी अधिक था। भारत पर वाह्य और विदेशी संस्कृतियों का या तो कुछ प्रभाव न था, या बहुत न्यून था। कम से कम दक्षिणी प्रान्तों में जहाँ सायण-भाष्य रचा गया, आधिपत्य हिन्दू संस्कृति को ही प्राप्त था।

स्वामी दयानन्द का समय सर्वथा भिन्न था। एक सहस्र वर्ष पूर्व से विदेशी-भाषा, विदेशी-भूषा और विदेशी-विचारों का इतना तीव्र आक्रमण होता आया कि संस्कृत भाषा भी लुप्त-प्रायः हो गई और जनता की रुचियाँ भी प्राचीन संस्कृति की ओर से हट गईं। किसी ने प्रसिद्ध कर दिया—*त्रियोवेदस्य कर्त्तारः भाण्ड धूर्त निशाचराः* और किसी ने कहा कि वेद गड़रियों के गीत हैं, और वह भी पुरानी चाल के गड़रियों के; गड़रियों में भी उन गीतों का कोई मान्य नहीं।

यद्यपि काशी या एक दो स्थानों में संस्कृत-भाषा पढ़ी और बोली जाती रही परन्तु यह केवल उस रोगी के समान जिसके हाथ-पैर ठण्डे हो जाते हैं, और केवल हृदय में कुछ गर्मी पाई जाती है। ऐसे रोगी के जीने की अधिक आशा नहीं रहती।

ऐसे समय आचार्य दयानन्द ने सहस्रों वर्ष से जमा होते हुये कूड़े-करकट के नीचे से वेदों को निकाल कर ऊपर रख दिया। और कम से कम दो धारणाओं का निराकरण तो कर दिया कि न तो वेद धूर्त और निशाचरों की पुस्तक हैं और न मूढ़ और मूर्ख गड़रियों के गीत हैं। आजकल के विदेशी या देशी वेद-प्रेमी इस

बात में स्वामी दयानन्द से सहमत हो गये हैं। यह श्रेय आचार्य दयानन्द को प्राप्त हो चुका है। इसमें कोई दो मत नहीं। आचार्य दयानन्द को यह कैसे सूझा कि वर्षों से जमे हुये इस कूड़ा-करकट के ऊँचे ढेर के नीचे कोई मूल्यवान् वस्तु छिपी है जो मानव-जाति के विचार की अधिकारिणी है, यह जानना कठिन है। गत शताब्दि की विद्यमान प्रवृत्तियों और प्रगतियों में कोई भी ऐसी नहीं दृष्ट पड़ती जो स्वामी दयानन्द के अन्वेषण में सहायक हो सकती। विपरीत प्रोत्साहन देने के लिये तो सहस्रों विचारधारायें थीं और उनका देश के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञों पर प्रभाव पड़ा। मेरे लिये यह एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न रहा है, और मैं तो यही कहूँगा कि दयानन्द में एक दिव्य ज्योति थी जो इतनी गम्भीर जा सकी।

अब परिस्थितियों की भिन्नता पर विचार कीजिये। ऐसा प्रतीत होता है कि सायण के समय वेदों के भाष्य की जनता में माँग थी। उच्चकोटि के विद्वान् वेदों के नाम से परिचित थे और लोग भी वेदों को जानना चाहते थे। स्मृति के साथ श्रुति की भी आवश्यकता प्रतीत होती थी तथा *श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्* की गूँज थी।

स्वामी दयानन्द के समय यह उत्कण्ठा जाती रही थी। सर्व-साधारण का यह विचार सुदृढ़ हो चुका था कि या तो वेदों में कुछ नहीं और यदि है तो हमारे काम के योग्य नहीं। बासी और सड़ी हुई रोटी की चिन्ता ही क्यों करनी ? प्रायः यह

प्रसिद्ध हो चुका था कि वेद सत्युग के लिये थे, उस समय ऋषियों में यह योग्यता थी कि बलि में मारे हुये पशु को भी जिलाकर स्वर्ग भेज देते थे। अब वह काल गया, और वेदों का वेदत्व अब लुप्त हो गया। कलियुग वालों के लिये केवल राम-नाम और और हनुमान चालीसा ही पर्याप्त है। पढ़े-लिखे लोग तो इसको भी एक ग्रामीण कल्पना ही समझते थे। उनका ध्यान तो पश्चिम की ओर था। उनको लार्ड मैकाले के इस कथन में अधिक सार दिखाई देता था कि भारतीय संस्कृति के मुख्य ग्रन्थों से तो अल्मारी का एक खाना भी न भरेगा जब कि पाश्चात्य विद्या का भंडार अनन्त और अतुल है।

परिस्थितियों का साधनों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सायण को विजयनगर राज्य के एक उदार और संस्कृति-प्रिय बुक्का राजा की शरण मिल गई। वह एक राजकीय भाषा-समिति के अध्यक्ष हो गये। उनके नीचे उस समय के प्रकाण्ड पण्डितों की प्रमुख मण्डली थी जिसमें धुरन्धर वैयाकरण, नैरुक्त, श्रौत, स्मार्त ग्रन्थों के वेत्ता उपस्थित थे। उस समय प्राचीन ग्रन्थ भी कम से कम उस राज्य की राजधानी में प्रचुर संख्या में रहे होंगे और दुर्लभ ग्रन्थों को प्राप्त करने के लिये राजकीय साधन उपस्थित रहे होंगे। सायणाचार्य की इस भाष्यकार-मंडली को चारों वेदों, शतपथ ब्राह्मण आदि अन्य ग्रन्थों के भाष्य करने में कितना समय लगा, उस पर कितना धन व्यय हुआ, इसके जानने की हमारे पास सामग्री नहीं है। आजकल के राजकीय विभागों

द्वारा छोटी से छोटी साधारण कृति के प्रकाशन के लिये कितना व्यय होता है उससे कदाचित् कुछ अनुमान लग सके।

स्वामी दयानन्द के साधन अति अल्प थे। कोई राजबल उनके साथ न था। राजों को अपनी स्थिति सँभालनी ही कठिन थी। स्वतन्त्र और स्वदेश-प्रेम दिखाने वाले विचारों के लिये स्थान ही नहीं रह गया था। यदि किसी के मन में कोई स्वतन्त्र विचार होता भी तो वह राजगद्दी पर रह नहीं सकता था। जन-बल था ही नहीं। धन-बल होता किस प्रकार? वैदिक धर्म के विषय में विद्वन्मण्डली तो सर्वथा विरुद्ध हो चुकी थी। जनता में वह नास्तिक, ईसाई, विधर्मी प्रसिद्ध हो चुके थे। पैर रखने को स्थान नहीं था। थोड़े से भक्त अवश्य मिले, परन्तु साधनहीन। साधारण मूल्य पर साधारण पुस्तकों के खरीदने वाले भी न थे। बैठने को स्थान न था। भ्रमण के लिये सुविधा न थी। लिखने के लिए लेखक न थे। छापने के लिये धन न था। लेखक मिले तो केवल साक्षर जो शुद्ध भी न लिख सकें और जिनका वेतन चपरासियों के वेतन से अधिक न था। कोई पुस्तकालय उपलब्ध नहीं था। कहीं-कहीं फटे और जीर्ण पन्ने मिल जाते थे। इधर-उधर कुछ पुस्तकें भी मिल जाती थीं जिनको खोजना पड़ता था।

इसके अतिरिक्त इन दो प्रसिद्ध आचार्यों में दृष्टिकोण का भी भेद था। आचार्य दयानन्द वैदिक सिद्धान्तों को अपने लिये निश्चित कर चुके थे। वह सिद्धान्त उनके सहयोगियों को मान्य

न थे। अतः उनको शास्त्रार्थ करने, अपने मत को मनवाने तथा आन्दोलन करने के लिये लगातार भ्रमण करना पड़ता था। और भ्रमण भी कण्टकाकीर्ण। जहाँ जायँ वहाँ विरोध। अपनों का विरोध और परायों का विरोध। आजकल हम लोग उस विरोध की कल्पना भी नहीं कर सकते।

सायणाचार्य के लिये कोई ऐसी बात न थी। उनका कोई मत निर्धारित न था। उनको किसी के खण्डन-मण्डन से प्रयोजन न था। आन्तरिक या वाह्य विरोध भी न था। उनके आधीन भाष्यकार किसी एक मत के प्रचारक न थे। उन्हें पूरी स्वतन्त्रता थी। एक दूसरे के विरुद्ध भी लिख सकते थे। भिन्न-भिन्न प्रचलित आख्यायिकाओं का सहारा भी ले सकते थे। वैकल्पिक धारणाओं को भी स्थान दे सकते थे। जिस प्रकार दयानन्द-मत निश्चित था उस प्रकार सायण-मत निश्चित न था। हिन्दू धर्म एक अनिरुक्त, अनिश्चित और असीमित धर्म था जो पण्डितों के शास्त्रों से भी आगे लोक में प्रचलित था। अतः यह आवश्यक न था कि लोक में वही हो जो वेद में है। लोक का धर्म वैदिक-धर्म से विशालतर था। अतः सायण-भाष्य में बहुत से ऐसे स्थल मिलेंगे, जो लौकिक धर्म के अध्यक्षों के प्रशंसा के विषय भले ही हों, उनकी मान्यताओं के विरुद्ध हैं तथा उनकी उपेक्षा की जा सकती है।

सायण-भाष्य के देखने से एक बात स्पष्ट हो जाती है। सायण-भाष्य के सम्पादकाचार्य हैं, भाष्यकार नहीं। उन्होंने कुछ

निर्देश अवश्य दिये होंगे। कुछ समन्वय भी किया होगा। कुछ सम्भव है स्वयं भी लिखा हो, आदर्श रूप में; परन्तु भिन्न-भिन्न स्थल भिन्न-भिन्न भाष्यकारों की कृतियाँ हैं। पूर्वापर क्रम से या युगपद्? यह कहना कठिन है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न स्थल बांट लिये गये होंगे। इसका एक प्रमाण है। एक भाष्यकार शब्दों की व्युत्पत्तियां आरम्भ में देता हैं, आगे नहीं। ऐसा हमको सायण के भाष्य में मिलता है। परन्तु यदि उन्हीं व्युत्पत्तियों को फिर प्राबल्य के साथ दुहराया जाय तो समझना चाहिये कि इसका लिखने वाला कोई दूसरा है जिसको पता नहीं कि यह बात पहले कही जा चुकी है। आरम्भ से अब तक सायण-भाष्य के अनेक प्रमाणित और अप्रमाणित संस्करण निकल चुके हैं। इनमें भी पुष्कल परिमार्जन हुआ होगा, यह स्वाभाविक है। दयानन्द-भाष्य को ऐसे परिमार्जन का अवसर नहीं मिला। यह स्पष्ट ही है। उनकी शैली के अनुयायियों ने स्वतन्त्र रूप में अनेक ग्रन्थ तथा भाष्य भी लिखे हैं और अभी परिश्रम जारी है। परन्तु यह हमारे प्रसंग से बाहर की बात है।

सायण-भाष्य मत और दयानन्द-भाष्य मत में कितनी समता है, इसका हम कुछ उल्लेख करना चाहते हैं।

समता

श्री सायणाचार्य वेद को ईश्वरकृत मानते हैं :—

(१) यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थं महेश्वरम् ॥[1]

यहाँ वेदों को महेश्वर के श्वास से निकला बताया है।

(२) तस्मात् 'सहस्रशीर्षः पुरुषः' (ऋ० सं० १०, १६, १) इत्युक्तात् परमेश्वरात् यज्ञात् यजनीयात् पूजनीयात् सर्वहुतः सर्वैर्हूयमानात् । यद्यपि इन्द्रादयस्तत्रतत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैव इन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः ।[2]

---

[1] उपोद्घात, श्लोक २

अर्थात्—

जिससे श्वास के समान वेदों का आविर्भाव हुआ और जिसने वेदों से (अर्थात् उस विद्या से जिसका वेदों में प्रतिपादन है) जगत् बनाया उस विद्यातीर्थ महेश्वर को नमस्कार है।

[2] उपोद्घात

अर्थात्—

उस परमेश्वर से जिसको (ऋग्वेद १०, ६०, १ में) सहस्रसिरों वाला कहा गया है उस यज्ञ अर्थात् पूजनीय, सर्वहुत अर्थात् जिसे

स्वामी दयानन्द का मत भी ऐसा ही है कि वेद ईश्वर की श्वास हैं। यज्ञ का अर्थ स्वामी दयानन्द ने भी पूजनीय परमेश्वर ही लिया है। 'होम' का अर्थ नहीं। यथा :—

'तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।'[3]

यहाँ जिस मन्त्र का सायणाचार्य ने उदाहरण दिया है, उसी का स्वामी दयानन्द ने, और अर्थ भी एक से ही किये हैं। इन्द्र आदि देवों के विषय में किंचित् भेद है परन्तु अन्ततोगत्वा सायण ने इन्द्र आदि को परमेश्वर का रूप ही माना है। परमेश्वर का रूप और परमेश्वर में क्या भेद है यह आलोचनीय विषय है।

सायणाचार्य वेदों के स्वतः प्रमाणत्व और स्वप्रकाशत्व के विषय में लिखते हैं :—

यथा घटपदादि द्रव्याणां स्वप्रकाशकत्वाभावेऽपि सूर्यचन्द्रादीनां स्वप्रकाशकत्वमविरुद्धं, तथा मनुष्यादीनां स्वकन्धारोहासंभवेऽपि अकुण्ठितशक्तेर्वेदस्य इतरवस्तु प्रतिपादकत्ववत् स्वप्रतिपादकत्वम-

---

सब पुकारा करते हैं, ऐसे परमेश्वर से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि कहीं-कहीं इन्द्र आदि देवों को सम्बोधित किया गया है परन्तु इन्द्रादि रूप से परमेश्वर ही का तात्पर्य है अतः यहाँ विरोध नहीं।

[3] देखो ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, 'वेदोत्पत्तिविषयः'

प्यस्तु । अत एव संप्रदायविदः अकुण्ठितां शक्तिं वेदस्य दर्शयन्ति—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं-जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्'। (शाबर भाष्य १। १। २) तथा सति वेदमूलायाः स्मृतेस्तदुभयमूलाया लोक प्रसिद्धेश्च प्रामाण्यं दुर्वारम् ।[४]

भावार्थ यह है कि जैसे घड़ा, कपड़ा आदि वस्तुयें स्वयं प्रकाशवान नहीं हैं; परन्तु सूर्य, चन्द्र आदि स्वयं भी अपने प्रकाश द्वारा दिखाई देते हैं; और घड़ा आदि वस्तुयें भी उसी प्रकाश द्वारा दीखती हैं। इसी प्रकार वेद भी सभी वस्तुओं का प्रकाश करते हैं। अपना भी और दूसरी वस्तुओं का भी। इसलिये वेद मूल हैं, स्मृतियाँ वेद के अनुकूल होने से प्रामाण्य हैं, और लौकिक वस्तुयें वेद और स्मृति दोनों के आधार पर प्रामाण्य हैं। इसकी पुष्टि में सायण ने शाबर भाष्य (पूर्व मीमांसा १। १। २) का प्रमाण दिया है।

स्वामी दयानन्द का भी यही मत है :—

'य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परतः प्रमाणार्हाश्च। ईश्वरोक्तत्वा च् चत्वारो वेदाः स्वतः प्रमाणम् । कुतः ? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात् तस्य सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तिमत्वाच्च। तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं सूर्य्य प्रदीपवत् । यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वं मूर्त्त द्रव्यप्रकाशकौ भवतः। तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः

[४] उपोद्घात

सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति' ।[५]

ईश्वरोक्त ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मानना चाहिये। जीवोक्त ग्रन्थों को परतः प्रमाण। ईश्वरोक्त होने से चारों वेद स्वतः प्रमाण हैं। क्योंकि ईश्वर भ्रमादिदोषों से मुक्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। इसलिये वेदों में वेदों को ही प्रमाण मानना चाहिये। सूर्य और दीपक के समान। जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशित हैं और अन्य मूर्त (साकार) पदार्थों को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार वेद भी स्वयं अपने को प्रकाशित करके अन्य विद्या ग्रन्थों को भी प्रकाशित करते हैं।

इस प्रकार वेदों के सम्बन्ध में जो दो मौलिक सिद्धान्त हैं अर्थात् प्रथम वेदों का ईश्वरोक्त होना और दूसरा उनका स्वतः प्रमाण होना, *इनमें सायण और दयानन्द में कोई मतभेद नहीं।* यदि अन्य गौण बातों में मतभेद भी हो तो उसको इन दोनों ऊपर की कसौटियों पर जाँचा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने माना है कि ऋग्वेदादि चार वेद चार ऋषियों द्वारा प्रादुर्भूत हुये।

केषां ? किन ऋषियों के ? *अग्निवाय्वादित्यांगिरसाम्।* अग्नि वायु, आदित्य और अङ्गिरा के।......*सृष्टिचादौ मनुष्यदेहधारिणास्ते ह्यासन्।* वे चारों ऋषि सृष्टि के आदि में मनुष्य देहधारी हुये हैं।[६]

---

[५] देखो ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, 'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषयः'

[६] देखो ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका, 'वेदोत्पत्तिविषयः'

सायणाचार्य भी ऐसा ही मानते हैं :—

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्, 'ऋग्वेद एवग्नेऽजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐ० ब्रा० ५-३२) इति । श्रुतेः ईश्वरस्य अग्न्यादि प्रेरकत्वेन निर्मातृत्वं द्रष्टव्यम् ।[७]

यहाँ सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण (५-३२) का प्रमाण देकर लिखा है कि जीव विशेष अर्थात् पुरुष विशेषों से वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। अग्नि नामक पुरुष से ऋग्वेद, वायु नामक ऋषि से यजुर्वेद, आदित्य नामक ऋषि से सामवेद। ईश्वर ने अग्नि आदि ऋषियों में प्रेरणा की, इसी का नाम निर्मातृत्व है। सायणाचार्य ने यह वाक्य पूर्व पक्ष में दिया है, इससे संभवतः कोई समझे कि सायणाचार्य को यह मान्य नहीं। परन्तु ऐसा नहीं है। सायणाचार्य ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य का विरोध नहीं करते। पूर्व पक्ष का विषय ब्राह्मण-विरोध था, अग्न्यादि ऋषि विरोध नहीं था। वह केवल यह सिद्ध करना चाहते थे कि वेदों के लक्षण और प्रमाणों में त्रुटि है। उसी का सायण ने अपने शब्दों में निराकरण किया है। पूर्व पक्ष ने उत्तरपक्ष द्वारा अभिमत बात को ही अपने पक्ष की सिद्धि में प्रस्तुत किया था तथा उत्तर पक्ष ने इसको स्वीकार करके मूल आक्षेप का खण्डन किया है।

यहाँ तीन मौलिक बातें दोनों आचार्यों को समान रूप से माननीय हैं।

(१) वेद ईश्वरोक्त हैं।

---

७ देखो उपोद्घात

(२) स्वतः प्रमाण हैं ।

(३) चार वेद चार ऋषियों द्वारा प्रकाशित हुये । ऋग्वेद अग्नि द्वारा, यजुर्वेद वायु द्वारा, सामवेद आदित्य द्वारा और अथर्ववेद अङ्गिरा द्वारा ।

यदि आगे मतभेद हुआ तो उसकी संगति इन तीन मौलिक सिद्धान्तों द्वारा ही जाँचनी पड़ेगी । अन्य कोई मार्ग नहीं ।

ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में सायण ने जैमिनि के पूर्व-मीमांसा के पहले अध्याय के दूसरे पाद के ३१ से ४५ वें सूत्र तक मन्त्राधिकरण में शाबर-भाष्य को विस्तार से उद्धृत किया है । इनमें निम्न सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं :—

(१) मन्त्रोच्चारणस्यार्थप्रकाशनरूपं दृष्टमेव प्रयोजनम् ।

मन्त्रों का उच्चारण केवल अदृष्ट के लिये नहीं अपितु दृष्ट-अर्थ प्रकाशन के लिये हैं । अर्थात् मन्त्र अर्थ के लिये पढ़े जाते हैं । उनका उपयोग है । केवल ध्वनि के लिये नहीं जैसा कि कुछ लोगों का विचार है ।

(२) असतोऽर्थस्याभिधायके वाक्ये गौणस्यार्थ स्योक्तिर्द्रष्टव्या ।

जिस वेद मंत्र का सीधा अर्थ न निकलता हो उसका गौण अर्थ ले लेना चाहिये । जैसे कहा कि यज्ञ के चार सींग हैं, यज्ञ कोई बैल तो है नहीं जिसके चार सींग हों । यहाँ गौण अर्थ लिया जाय अर्थात् होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, यज्ञ रूपी पशु के चार सींग जैसे हैं ।

(३) गुणादविप्रतिषेधः स्यादिति । यथा 'त्वमेव पिता त्वमेव

माता इत्यत्र गौणप्रयोगादविरोधः तद्वत् ।

जहाँ कहीं वेदों में विरोध प्रतीत होता हो वहाँ गौण अर्थ लिया जाय। जैसे कहा कि 'तू ही पिता है, तू ही माता है'। यहाँ पितृत्व और मातृत्व से एक प्रेम का गुण अभिप्रेत है, विरोध नहीं। ऐसे ही वेदार्थ में समझना चाहिये।

(४) 'विद्यमान एवार्थः प्रमादालस्यादिभिर्न विज्ञायते'।

कहीं-कहीं वेदों में निरर्थक शब्द प्रतीत होते हैं। यह वेदों का दोष नहीं, प्रमाद या आलस्य का दोष है। 'जर्भरी तुर्फरीतू' यह उदाहरण दिये जाते हैं कि वेदों में निरर्थक शब्द आये हैं। यहाँ बताया गया है कि 'जर्भरी' का अर्थ है दो पालक या भर्त्ता (भृ धातु से), और 'तुर्फरीतू' का अर्थ है दो घातक (तुर्फ धातु से)।

(५) अनित्यानां बबरादीनामर्थानां दर्शनात् ततः पूर्वमसत्वात् पौरुषेयो वेद इति तस्योत्तरमेवं सूत्रितम्, 'परन्तु श्रुति सामान्य मात्रम्'।[८]

कुछ लोगों का आक्षेप है कि वेद में 'बबर' आदि नाम आये हैं यह नाम तो पीछे आने वाले मनुष्यों के होंगे। इससे सिद्ध है कि वेद इनसे पहले न थे और वह अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरोक्त नहीं। इसका उत्तर जैमिनि जी ने दिया है कि यहाँ 'बबर' आदि मनुष्य विशेष के नाम नहीं, शब्दानुकृति है। *'बबरेति शब्दं कुर्वन् वायुरभिधीयते'* शब्द करती हुई वायु का नाम 'बबर' है।

---

[८] जै० सू०, १, १, ३१

(६) सायण ने पहले एक आक्षेप उठाया फिर उसका उत्तर दिया। आक्षेप यह था :—

यथा रघुवंशादय इदानींस्तनास्तथा वेदा अपि। न तु वेदा अनादयः। अत एव वेदकर्तृत्वेन पुरुषा आख्यायन्ते। वैयासिकं भारतं, वाल्मीकीयं रामायणं यथा भारतादि कर्तृत्वेन व्यासादय आख्यायन्ते तथा काटकं, कौथुमं तैत्तिरीयमेवं तत्तद्वेदशाखाकर्तृत्वेन कठादीनामाख्यातत्वात् वेदाः पौरुषेयाः।

जैसे 'रघुवंश' कालिदास ने बनाया। 'महाभारत' व्यास ने, 'रामायण' वाल्मीकि ने, और उन उनके रचे माने जाते हैं; इसी प्रकार वेदों के साथ भी काठक, कौथुम, तैत्तिरीय आदि नाम आते हैं। इसलिये वेद पौरुषेय अर्थात् मनुष्य-कृत हुये।

इसका उत्तर सायणाचार्य ने 'जैमिनि-सूत्र' द्वारा दिया है। 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' अर्थात् शब्द तो उनसे भी पहले था। *'आख्या प्रवचान' अस्त्वयमाख्याया गतिः। 'संप्रदायप्रवर्तनात् से यमुपपद्यते'*। अर्थात् कठ आदि वेदों के व्याख्यान के सम्प्रदाय वाले हैं, रचयिता नहीं।

सायण ने इस सम्बन्ध में 'जैमिनि-न्याय' के दो श्लोक दिये हैं :—

पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता।
काटकादि समाख्यानाद् वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥
सामाख्यानं प्रवचनाद् वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततो ऽपौरुषेयता॥[१]

---

[१] जै० न्या०, १-१-८

जैसे हम लोग पहले के प्रचलित वाक्यों को दुहराते हैं, इसी प्रकार काठक आदि ने वेदों का प्रवचन किया। वेदों का कर्त्ता कोई पुरुष हुआ ही नहीं। इसलिये वेद अपौरुषेय हैं।

(७) इसी की पुष्टि में सायण ने चार और प्रमाण दिये है :—

(अ) शास्त्रयोनित्वात्—भगवता वादरायणेन वेदस्य ब्रह्म-कार्य्यत्वं सूत्रितम्।

अर्थात् भगवान् व्यास वादरायण ने वेदान्त दर्शन (१।१।३) में वेदों का ईश्वरोक्त होना माना है।

ऋग्वेदादि शास्त्र कारणत्वात् ब्रह्म सर्वज्ञमिति सूत्रार्थः।

ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण होने में ब्रह्मसर्वज्ञ है।

(आ) 'अत एव च नित्यत्वम्'।[10] अर्थात् वेद नित्य हैं।

(इ) 'वाचा विरूप नित्यया'।[11]

(ई) अनादिनिधना नित्या वागुपसृष्टा स्वयंभुवा।[12]

सायणाचार्य के यह विचार स्वामी दयानन्द से अक्षरशः मिलते हैं।

इससे हम यह परिणाम निकालते हैं कि सायणाचार्य के मत में वेद ईश्वरोक्त हैं। नित्य हैं। केवल सत्युग या त्रेता युगों

---

[10] ब्रह्म-सूत्र, १, ३, २६

[11] ऋग्वेद संहिता, ८, ७५, ६

[12] महाभारत, शांतिपर्व, २३२, २४

के लिये ही नहीं, अपितु सदा के लिये हैं। उनमें निरर्थकता नहीं है। उनका पठन-पाठन और उनके अनुकूल आचरण आज भी उतना ही उपयोगी और आवश्यक है जैसे पहले था। आश्चर्य है कि आजकल के हिन्दू विद्वानों का, चाहे वह आधुनिक शैली के उदारचरित पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित लोग हों, चाहे पुरानी चाल के साम्प्रदायवादी या सनातनी, इस विषय में ऐसा विचार नहीं है। वह कहने को तो सायण के पक्षपाती और दयानन्द के विरोधी हैं। परन्तु वस्तुतः वह दोनों के विरोधी हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि सायण और दयानन्द के भाष्यों में भेद क्यों है? इसका मुख्य कारण दृष्टिकोण-भेद है जिसकी ऊपर दिये हुये मौलिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर मीमांसा करनी है।



वेद और ब्राह्मण

वेद क्या हैं ? वेद शब्द से किस-किस ग्रन्थ का बोध होता है ? स्वामी दयानन्द और आचार्य सायण का मतभेद यहीं से आरम्भ हो जाता है।

आचार्य सायण ने 'ऋग्वेद-भाष्य' के उपोद्धात में एक प्रबल पूर्व पक्ष उठाकर उसका उत्तर दिया है।

'ननु वेद एव तावन्नास्ति कुतस्तदवान्तर विशेष ऋग्वेदः। तथाहि। कोऽयं वेदो नाम नहि तत्र लक्षणं प्रमाणं वास्ति। न च तदुभय व्यतिरेकेण किंचिद् वस्तु प्रसिद्धयति 'लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धिः' इति न्यायविदां मतम्।'

जब तक वेद की स्थापना न हो जाय, ऋग्वेद का प्रश्न ही नहीं उठता। वेद कहते किसको हैं ? वेद का न तो कोई लक्षण है, न प्रमाण। 'न्याय' जानने वालों का मत है कि लक्षण और प्रमाण के बिना तो वस्तु सिद्धि होती नहीं।

अब इसी आक्षेप का व्यासतः वर्णन किया है :—

(१) प्रत्यक्षानुमानागमेषु प्रमाणविशेषेषु अन्तिमो वेद इति तल्लक्षणमिति चेत्। न मन्वादिस्मृतिष्वतिव्याप्तेः। समयबलेन

'सम्यक् परोक्षानुभवसाधनम्' इत्येतस्यागमलक्षणस्य तास्वपि सद्भावात् ।

अर्थात् प्रमाण तीन होते हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम । अन्तिम 'आगम' प्रमाण वेद है । यदि ऐसा लक्षण करो तो इस लक्षण में अति-व्याप्ति दोष है; क्योंकि परोक्ष अनुभव के लिये मनुस्मति आदि भी प्रमाण माने जाते हैं ।

(२) 'अपौरुषेयत्वे सति' इति विशेषणात् अदोष इति चेत् । न वेदस्यापि परमेश्वर निर्मितत्वेन पौरुषेयत्वात् ।

यदि कहो कि वेद अपौरुषेय हैं तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि वेद परमेश्वर-कृत हैं । अतः पौरुषेय हैं ।

(३) शरीरधारि पुरुष निर्मितत्वाभावाद पौरुषेयत्वमिति चेत् । न । 'सहस्रशीर्षा पुरुष' । (ऋ० सं० १०, ६०, १) इत्यादि श्रुतिभिरीश्वरस्यापि शरीरित्वात् ।

यदि कहो कि वेद अपौरुषेय हैं । क्योंकि किसी शरीरधारी पुरुष के बनाये नहीं, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि ऋग्वेद (१०, ९०, १) में लिखा है कि ईश्वर सहस्रशीर्ष अर्थात् हजार सिर वाला है । अतः वह शरीरधारी है ।

(४) कर्मफल रूप शरीरधारि जीव निर्मितत्वाभावमात्रेण अपौरुषेयत्वं विवक्षितमिति चेत् । न । जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात् ।

यदि कहो कि कर्मफलरूप शरीरधारी ने नहीं बनाया इस लिये वेद अपौरुषेय हैं, तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अग्नि

आदि विशेष जीवों पर वेदों का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) मंत्रब्राह्मणात्मकः शब्द राशिर्वेदइति चेत्। न। ईदृशो मन्त्रः ईदृशं ब्राह्मणम् इत्यनयोरद्याप्यनिर्णीतत्वात्।

यदि कहो कि मंत्र और ब्राह्मण में जो शब्दराशि है उसका नाम वेद है, तो यह भी नहीं। क्योंकि आज तक निर्णय ही नहीं हो सका कि यह मंत्र है और यह ब्राह्मण।

यह है पूर्व पक्ष! इसमें ईश्वर को 'सहस्रशीर्षा' वाक्य के आधार पर जो पुरुष (शरीरधारी पुरुष) माना इसका निराकरण तो सायण ने स्वयं इस मंत्र के भाष्य में कर दिया है। वह लिखते हैं :—

सर्व प्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा। सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः। यानि सर्व प्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्-देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्।[1]

अर्थात् यहाँ पुरुष से विराट् पुरुष अभिप्रेत है जो सब प्राणियों का समष्टिरूप है। सहस्र का अर्थ है अनन्त। सब प्राणियों के जो अनन्त सिर हैं वह सब ईश्वर के ही भीतर हैं। अतः उसी के सिर हैं, ऐसा कहा गया, इसलिये ईश्वर 'सहस्रशीर्षा'[2] हुआ।

[1] देखो सायण-भाष्य, १०, ९०, १

[2] बहुत से 'सहस्रशीर्षा' से ईश्वर का साकार होना सिद्ध करते हैं। सायण उसका खण्डन करता है और इस विषय में सायण और दयानन्द का एक मत है।

अर्थात् 'सहस्रशीर्षा' शब्द से परमेश्वर शरीरधारी पुरुष सिद्ध नहीं होता और वेद के अपौरुषेयत्व में कोई दोष नहीं आता।

परन्तु वेद और ब्राह्मण का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? इस पर सायण लिखते हैं—

'मंत्र ब्राह्मणात्मकत्वं तावददुष्टं लक्षणम्। अत एव आपस्तम्बो यज्ञपरिभाषायामेवमाह—'मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० परि० १, ३३) *इति।*

वेद को मंत्र और ब्राह्मण आत्मक बताया। यह लक्षण तो अदुष्ट अर्थात् ठीक ही है। इसीलिये आपस्तम्ब ने 'यज्ञपरिभाषा' में कहा है कि मंत्र और ब्राह्मण दोनों को 'वेद' नाम से कथित किया गया है।

स्वामी दयानन्द को यह मत सर्वथा अग्राह्य है। क्योंकि जहाँ कहा कि अग्नि पर 'ऋग्वेद' का अविर्भाव हुआ, वायु ऋषि पर 'यजुर्वेद' का, आदित्य पर 'साम' का या अङ्गिरा पर 'अथर्व' का, वहाँ ब्राह्मण ग्रन्थों से तात्पर्य न था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' का जो ऋग्वेदीय ब्राह्मण कहा जाता है अग्नि पर आविर्भाव नहीं हुआ। न 'शतपथ ब्राह्मण' का वायु पर। इससे स्पष्ट है कि वेदों से तात्पर्य केवल मंत्रों से ही है, ब्राह्मणों से नहीं। सायण ने ब्राह्मण ग्रन्थों को भी वेद समझकर उनको वेद के समान स्वतः प्रमाण माना। यह भारी भूल थी और इस पर स्वामी दयानन्द

ने अपना घोर विरोध प्रकट किया है।[3] वह लिखते हैं :—

अथकोयं वेदो नाम मन्त्रभाग संहितेत्याह।

'वेद' किसका नाम है ? मन्त्र भाग संहिता का ही।

किंच 'मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेद संज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति।

अच्छा तो कात्यायन का कथन है कि मंत्र भाग और ब्राह्मण भाग दोनों का नाम वेद है। इसको तुम क्यों नहीं स्वीकार करते ?

इसका उत्तर स्वामी दयानन्द देते हैं :—

मैवं वाच्यम्। न ब्राह्मणानां वेद संज्ञा भवितुमर्हति। कुतः ? पुराणेतिहास संज्ञकत्वाद्, वेदव्याख्यानात्, ऋषिभिरुक्तत्वाद् अनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायन भिन्न ऋषिभिर्वेद संज्ञायामस्वीकृतत्वात् मनुष्य बुद्धिरचयित्वात् च इति।

ऐसा मत कहो। ब्राह्मण वेद नहीं हो सकते। क्यों ?

(१) इनको पुराण और इतिहास कहकर पुकारा है। (२) यह वेद का व्याख्यान है, (३) यह ऋषियों के करे हैं। (४) ईश्वरोक्त नहीं है। (५) कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने इनको वेद नहीं माना है। (६) यह मनुष्य की बुद्धि से रचे गये हैं।

इस पर स्वामी दयानन्द ने प्रश्न उठाया है :—

---

[3] देखिये स्वामी दयानन्द कृत 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका', 'वेद संज्ञा-विचारः'

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति न चैवं मंत्रभागे। किंच भोः त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्। (यजुर्वेद, अध्याय ३, मंत्र ६२)। *इत्यादीनि वचनानि ऋषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिषुअपि दृश्यन्ते, अनेनेतिहासादि विषये मंत्र ब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते। पुनर्ब्राह्मणानामपि वेद संज्ञा कुतो न मन्यते ?*

अर्थात् यजुर्वेद में जमदग्नि, कश्यप आदि ऋषियों के नाम आते हैं। इस विषय में जैसे मंत्र वैसे ब्राह्मण । फिर ब्राह्मणों को वेद क्यों नहीं मानते ?

स्वामी दयानन्द इस आक्षेप का उत्तर देते हैं ?

मैवं भ्रमि नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः। अत्र प्रमाणम्। चक्षुर्वै जमदग्नि ऋषिः यदैनेन जगत् पश्यति अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः (शतपथ, काण्ड ८, अध्याय १)। *कश्यपो वै कूर्मः कूर्मो वै प्राणः* (शतपथ, काण्ड ७, अध्याय ५) *अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति। शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः। अनेन मंत्रेण ईश्वर एव प्रार्थ्यते।......... नात्र मंत्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्ति इत्यवगन्तव्यम्।*

अर्थात् 'जमदग्नि' नाम है 'आंख' का। इससे समस्त जगत् देखता और विचार करता है। 'कश्यप' या 'कूर्म' 'प्राण' को कहते हैं। क्योंकि शरीर की नाभि में इसकी कूर्म की जैसी स्थिति है। यहां ईश्वर ही से प्रार्थना की गई है। मंत्रों में इतिहास का लेश-

मात्र भी नहीं। इसके आगे दयानन्द स्वामी ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि इतिहास और पुराण शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों के लिये आये हैं, भागवतादि पुराणों के लिये नहीं। प्रकरणान्तर होने के कारण इसको यहां नहीं लेते। और न सायण ने भाष्य करने में भागवतादि पुराणों का सहारा लिया है। परन्तु वेद-भाष्य करने में ब्राह्मण ग्रन्थों का तो पुष्कलता से आश्रय लिया गया है। ऐसा सायण ने क्यों किया ?

इसका कारण है आपस्तम्ब आदि का प्रभाव और उनको न समझना। सायण स्वयं लिखते हैं कि आपस्तम्ब ने *'यज्ञ-परिभाषा'* में ऐसा लिखा है। इसका तो केवल यही अर्थ हुआ कि आपस्तम्ब कुछ यज्ञ सम्बन्धी परिभाषायें अपने ग्रन्थ के लिये बना रहे थे। उसमें उनको मन्त्रों के भी प्रमाण देने थे और ब्राह्मणों के भी। अतः पारिभाषिक रीति से उन्होंने लिख दिया कि जहाँ कहीं हम 'वेद' शब्द का प्रयोग करें वहाँ मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का अर्थ लेना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्र और ब्राह्मण एक हैं या उनमें तादात्म्य है। वेद तो मन्त्र ही हैं, परन्तु परिभाषा के लिये ब्राह्मणों की भी वेद संज्ञा मान ली गई। जैसे कोई कहे किसी आदमी को झूठ नहीं बोलना चाहिये, तो आदमी की परिभाषा में पुरुष और स्त्री दोनों आते हैं। इससे पुरुष स्त्री नहीं हो जाता और न स्त्री पुरुष हो जाता है। परन्तु पारिभाषिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष दोनों की पुरुष संज्ञा हो जाती है। कानून या प्रविधान के ग्रन्थों में ऐसी परिभाषायें शब्द-गौरव

के कम करने के लिये बनाई जाती हैं। आपस्तम्ब ने भी ऐसा ही किया होगा। यदि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद होते तो इस परिभाषा के बनाने की आवश्यकता न पड़ती। विधान (कानून) की पुस्तकों में भी जब प्रचलित शब्दों से काम नहीं चलता, तो परिभाषायें इसी प्रकार बनाई जाती हैं। प्रायः वर्ण धर्म का वर्णन करते हुये लिखा है कि जो अमुक कार्य करता है वह ब्राह्मण है। यहाँ पुल्लिंग का प्रयोग होते हुये भी वह परिभाषा स्त्रियों पर भी लागू होती है। ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिये।

हमने अपने ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में इस सम्बन्ध में जो लिखा है उसको उद्धृत करना यहाँ भी उपयोगी होगा :—

"कुछ लोग ब्राह्मणों को वेद सिद्ध करने के लिये वेदों को भी खटाई में डाल देते हैं। कोई कहता है कि वेद अनन्त हैं, इस लिये ब्राह्मण वेद हैं। कोई कहता है कि बहुत से ब्राह्मण ग्रन्थ लुप्त हो गये। कोई 'वेद' की व्युत्पत्ति करके ब्राह्मणों को वेद सिद्ध करना चाहता है। वह यह नहीं समझते कि इससे ब्राह्मणों का गौरव तो नहीं होता परन्तु वेदों का लाघव हो जाता है। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ के आन्तरिक साक्षी (internal evidence) उनको अन्यथा सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। मुदई सुस्त गवाह चुस्त।

अब एक प्रश्न रह जाता है। क्या ब्राह्मण ग्रन्थों में कोई बात वेद विरुद्ध भी है ? ब्राह्मण ग्रन्थ जैसे इस समय मिलते हैं

उनसे तो कई बातों में वेद-विरोध स्पष्ट ही है। जैसे यज्ञों में पशु-बध। पशु-बध न तो वेदों में विहित ही है और न उन मंत्रों में उनका उल्लेख है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु-बध में विनियुक्त हैं।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पशु बध नहीं है। केवल टीकाकारों ने 'आलभन' शब्द का भूल से 'बध' अर्थ लेकर ऐसा भ्रम उत्पन्न कर दिया है। यह ठीक है कि 'लभ' धातु का अर्थ 'प्राप्ति' है और 'आ' उपसर्ग लगने से 'आलभ' का अर्थ बध नहीं हो सकता। 'पारस्कर गृह सूत्र' में विवाह के सम्बन्ध में यह वाक्य आता है :—

अथास्यै दक्षिणा ऽं समधि हृदयमालभते ममव्रते इत्यादि

(प्रथम काण्ड, अष्टमी कण्डिका)

अर्थात् वर बधू के हृदय पर हाथ रखकर 'आलभन' करे। यहाँ 'आलभते' का अर्थ है स्पर्श, न कि काटना या बध करना। परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्वापर के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त खींचातानी करके भी ब्राह्मण ग्रन्थों के माथे से पशु-बध के कलंक का टीका मिटाया नहीं जा सकता। यदि एक स्थान पर 'आलभन' शब्द आता तो इसकी कुछ व्याख्या की जा सकती थी। परन्तु कई स्थलों पर पशु के काटने का इतना स्पष्ट विधान है कि 'आलभन' का अर्थ भी वही लेना पड़ता है। कहीं कहीं 'आ+लभ' का प्रयोग न करके 'हन्' धातु का प्रयोग किया गया है, जैसे :—

'तं यत्र निहनिष्यन्तो भवन्ति' (ऐतरेय २, २, १)

अर्थात् 'जहाँ पशु का वध करने वाले हैं' इत्यादि।

इससे हम तो यह मानने पर मजबूर हो जाते हैं कि वेद के अध्वर नाम हिंसा-रहित यज्ञों में किसी ने किसी अवस्था में कहीं पर किसी प्रकार पशुबध की प्रथा प्रविष्ट कर दी। सम्भव है, तांत्रिक काल में इसका आरम्भ हुआ हो। आश्चर्य की बात यह है कि समस्त आर्य जाति में आरम्भ काल से ही गौओं को पूज्य मानते हुये भी यज्ञों में पशुबध का उल्लेख मिलता है। इस बात को मध्यकालीन आर्य्य विद्वानों ने भी इतनी घृणा से देखा कि स्मृतिकारों ने घोषित कर दिया कि यज्ञ में गोबध कलिकाल में निषिद्ध है। यह महारोग की एक क्षणिक और अस्थायी चिकित्सा थी। क्योंकि वेद तो सनातन हैं अर्थात् उनका मानना और उनके अनुकूल आचरण सब देशों और सब कालों के लिये है। वह देश और काल के प्रभाव से अतीत हैं। यह एक ऐसा विषय है जिसका विवेचन इस भूमिका में नहीं हो सकता। इसके लिये बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है। प्रतीत होता है कि 'आ' उपसृष्ट 'लभ' धातु का मौलिक अर्थ 'प्राप्ति' ही था। पीछे से स्पर्श और उसके बहुत पीछे बध हुआ। यह ठीक है कि उपसर्ग धातु के अर्थों को बदल देते हैं। यदि न बदलते तो उपसर्गों से लाभ ही क्या था? परन्तु बदले हुये अर्थों में भी धातु का आत्मा (spirit) उपस्थित रहता है। धात्वर्थ उन सब अर्थों की नाभि है। उपसर्ग 'अरा' हैं जिनके सहारे अर्थों का चक्र घूमता है। जैसे 'गम्' में 'आ' लगाने से 'आगम'



का अर्थ उलट गया। परन्तु यहाँ अर्थ नहीं उलटा, गति तो आगम में भी ओत-प्रोत है। केवल गति का आरम्भ का और अन्त का प्रदेश बदल गया। 'जयपुरं गच्छामि' और 'जयपुरादागच्छामि' दोनों में 'गच्छ' का अर्थ है गति। केवल स्थान भेद हो गया है। एक दूसरे धातु को लीजिये, 'ग्रह', इस धातु के अर्थ उपसर्ग लगने से बहुत बदल जाते हैं, जैसे :—

प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान् परिजग्राह निजग्राहास्थितानपथि॥

(सौन्दरानन्द महाकाव्य, सर्ग २, १०)

यहाँ 'अनुग्रह' का अर्थ है 'कृपा'। 'विग्रह' का अर्थ है 'लड़ाई'। 'परिग्रह' का अर्थ है 'पालन' और 'निग्रह' का अर्थ है 'रोकना'। परन्तु इन सब में 'ग्रह' धातु का 'पकड़ना' अर्थ ओत-प्रोत है। जब तक मनुष्य दूसरे का संपर्क नहीं करता उसके साथ न दया कर सकता है, न लड़ाई, न पालन, न रोकना। इसी प्रकार पशु को मारने के लिये उसकी प्राप्ति पहले होगी और वध पीछे। इस प्रकार 'आलम्य हन्ति' के अर्थ में केवल 'आलभते' का प्रयोग किया गया। और जब यह प्रयोग दीर्घ-काल के प्रयोग से परिचित सा हो गया तो 'आलभन' 'हनन' के अर्थ में रूढ़ि हो गया। और जहाँ कहीं 'आलभन' प्राप्ति के अर्थ में था वहाँ भी 'हनन' के अर्थ में ले लिया गया। जब यज्ञ में पशु-वध सामान्य हो गया तो पशु-वध सम्बन्धी अन्य शब्दों

का ताना-बाना भी 'आलभन' के चारों ओर इस प्रकार बुन दिया गया कि उसके वास्तविक अर्थ का तिरोभाव हो गया।

ऐतरेय ब्राह्मण के बहुत से स्थलों के देखने से ज्ञात होता है कि यज्ञों को हिंसा-शून्य बनाया जा सकता है। हिंसक-वृत्ति के हस्ताक्षेप से पहले यज्ञों का यही रूप था। कहीं-कहीं तो यज्ञ की रूपकालंकर में पशु से उपमा देकर यज्ञ के सिर, यज्ञ के पैर, यज्ञ के उदर, यज्ञ के हृदय आदि का उल्लेख किया गया है। परन्तु पशु की उपमा इसलिये नहीं दी गई कि पशु को काटा जाय या यज्ञ को काटा जाय। अपितु, इसलिये कि जैसे पशु के सब अङ्ग एक दूसरे से घनिष्टतम सम्बन्ध रखते हैं, उसी प्रकार यज्ञ की भिन्न-भिन्न क्रियायें भी परस्पर सम्बन्धित हैं। यदि किसी पशु का सिर काट लिया जाय तो न सिर सिर रहता है न पशु पशु। पशु तभी तक पशु है जब तक उसके अङ्ग बने हुये हैं और अङ्ग तभी तक अङ्ग हैं जब तक अङ्गों के साथ उनका सम्बन्ध है। इसी प्रकार अङ्ग-भङ्ग होने से यज्ञ यज्ञ नहीं रहता। 'यज्' धातु का एक अर्थ 'संगतिकरण' है। 'संगति' की सबसे अच्छी उपमा जीवित पशु का शरीर है। मृत का नहीं। अंगरेजी का शब्द 'body politic' जीवित शरीर की उपमा से समन्वित है। इसी प्रकार organisation जो सभा के अर्थों में आता है शरीर के अवयवों या गोलकों (organs) से सम्बन्ध रखता है। Corporation, in coporate आदि अनेकों शब्द लैटिन के corpus (शरीर) से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु वहाँ काटने

का अर्थ न है, न उसकी ओर दूरस्थ संकेत ही है।[४]

आचार्य सायण ने इस विवेचना को दृष्टि से ओझिल करके कई वेद मन्त्रों की व्याख्या में ऐसा अनर्थ कर दिया है कि उनके ही मूल-सिद्धान्त का विरोध होता है। क्योंकि यदि उन इतिहासों या गाथाओं को मानकर वेदों का अर्थ किया जाय जो लाट्यायन, शाट्यायन, कौषतकी, मैत्रायणी आदि ब्राह्मणों में मिलती हैं तो वेद ईश्वरकृत, अनादि, नित्य, अपौरुषेय सिद्ध नहीं होते। और न उनको *'वेदोऽखिलो धर्म मूलम्'* के अनुसार धर्म ग्रन्थ माना जा सकता है।

सायण ने ऐसी भूल क्यों की? जान-बूझ कर तो न की होगी। पक्षपात या साम्प्रदायिकता का भी प्रश्न नहीं था। इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि उस समय वेद व्यवहार की पुस्तक तो रह नहीं गये थे। प्राचीन धर्म ग्रन्थ होने के नाते पवित्रता का भाव था और साधारणतया प्रचलित धारणाओं और मान्यताओं पर शंका उठाने की प्रथा न थी। संभवतः पण्डितवर्ग ऐसे प्रश्न करना पाप भी समझते हों। शबरस्वामी आदि ने अपने जैमिनि-सूत्रों के मीमांसा भाष्य में भी ब्राह्मणों को श्रुति में शामिल किया है। हम आगे दिखायेंगे कि इस भ्रांति से वेदार्थ में कितना विघ्न पड़ा और स्वामी दयानन्द के तद्विषयक विरोध का मूल्य क्या है?

---

[४] गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत 'ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण' का अनुवाद, (भूमिका) पृ० ७-११

 ४ 

यौगिक, योगरूढ़ि और रूढ़ि

वैदिक शब्दों अथवा संसार की सभी भाषाओं के शब्दों की अर्थों की दृष्टि से तीन कोटियां की गई हैं। एक *यौगिक* अर्थात् वह शब्द जो अपने धात्वर्थ के ही द्योतक हैं। उनमें कोई न्यूनता या आधिक्य नहीं होने पाया। जैसे, 'अविता'। यह 'अवरक्षणे' धातु से बनता है। हर एक रक्षा करने वाली वस्तु को 'अवितृ' कह सकते हैं। यह शब्द वेदों में बहुत आया है और वैदिक काल से अब तक यह शुद्ध यौगिक बना हुआ है। यह संकुचित होकर अब तक भी किसी विशेष रक्षा करने वाली वस्तु या व्यक्ति के लिये प्रयोग में नहीं लाया गया। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है। जैसे, कुम्हार मिट्टी रूपी धातु से या सुनार सोना रूपी धातु से कुछ न कुछ तो बना ही डालता है और वह धातु अपनी मौलिक अवस्था में कम प्रयुक्त होता है, इसी प्रकार मनुष्य मौलिक यौगिक शब्दों के प्रयोग में कुछ न कुछ तो परिवर्तन कर ही देते हैं। जैसे 'पंकज' शब्द आरंभ में तो कीचड़ से बनी किसी वस्तु के लिये प्रयुक्त हुआ होगा। परन्तु पीछे से केवल कमल के लिये आने लगा। अर्थात् इसकी

तरलता चली गई। यह जमकर बर्फ बन गया। अब हर किसी वस्तु को जो कीचड़ से उत्पन्न है 'पंकज' नहीं कह सकते। यह उदाहरण है सकुचन का। कहीं कहीं प्रसारण भी होता है। अर्थात् शब्द मूलतः तो धात्वर्थ से सम्बन्धित था, परन्तु कालान्तर में किसी कल्पित, अर्ध कल्पित या वास्तविक सादृश्य के विचार से उस शब्द का प्रयोग उन वस्तुओं के लिये भी होने लगा जिनमें धात्वर्थ का अंश या तो अत्यन्त स्वल्प है या सर्वथा लुप्त हो गया। इसका अच्छा लौकिक उदाहरण है 'घड़ी', जिससे समय की माप की जाती है। संस्कृत में इसको 'घटिका' कहते हैं जो 'घट' शब्द का न्यून-वाचक रूप है। 'घट' नाम है घड़े का जिसमें पानी भरते हैं। पूर्वकाल में समय के मापने के लिये लोगों ने छोटी सी घटिया बनाई जिसकी पैंदी में एक बहुत बारीक छिद्र होता था। इस घटिया को पानी की नांद में तैरा देते थे। पानी उस छिद्र में से शनैः शनैः उस घटिया में भरता जाता था। जब घटिया डूब जाती तो उस समय को एक घंटा कहते थे। साठ सत्तर वर्ष पूर्व भारतवर्ष के रईसों के दरवाजे पर ऐसी घटियां बहुत थीं। उनका नाम था जल घड़ी। द्वारपाल जलघड़ी को देख कर घण्टा बजाया करता था। आजकल अनेक प्रकार की ऐसी घड़ियां बनाई गई हैं जिनमें 'घट' या घड़े का सम्बन्ध कुछ भी शेष नहीं रह गया। परन्तु इतिहास जानने वाले समझते हैं कि 'घड़ी' का निकास 'घड़े' से हुआ है। यह योगरूढ़ि शब्दों के प्रसारण-क्रिया द्वारा बनने का दृष्टान्त है। कालान्तर में योगरूढ़ि

शब्द ही रूढ़ि हो जाते हैं क्योंकि धात्वर्थ का लेशमात्र भी शेष नहीं रहता। रूढ़ि और योगरूढ़ि के बीच में सम्बन्ध तो अवश्य होता है। परन्तु वह सम्बन्ध मनुष्य की साधारण कल्पना से बहुत दूर पड़ जाता है, इसका एक मनोरंजक उदाहरण सुनिये। मेरा एक बच्चा हवाई जहाज को *'आया'* कहने लगा। आप पूछेंगे कि 'आया' जो 'आना' धातु का रूप है, हवाई जहाज का सूचक कैसे हो गया। इसका एक विचित्र इतिहास है जो कल्पनातीत है। जब कोई हवाई जहाज आकाश में दिखाई पड़ता तो घर के लोग उस बच्चे को गोद में लेकर दिखाते और कहते 'वह आया', 'वह आया', 'आया'। बच्चे ने समझा कि हवाई जहाज का नाम ही 'आया' है।[1]

इस प्रकार की असंख्य घटनायें आदिकाल से अब तक होती रही हैं जिन्होंने भाषाओं के शब्दों में उथल-पुथल कर दी। कहीं बिगाड़ा, कहीं बनाया, कहीं कुछ बिगाड़ा, कुछ बनाया। कहीं

---

[1] टार्टरिक-एसिड (Tartaric Acid) अंगरेजी का एक वैज्ञानिक शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति सुनिये।

तातार लोग जो साइबेरिया के तट पर एशिया के निवासी हैं 'टारटार' नाम से पुकारे जाते हैं। प्रसिद्धि यह है कि यह बड़े अक्खड़ होते हैं। किसी से दबते नहीं। टार्टरिक-एसिड का जब अन्वेषण हुआ तो इसमें कोई ऐसे 'साल्ट' (नमक) थे जिनको तोड़ना कठिन था। अतः काठिन्य के विचार से इस एसिड का नाम 'टार्टरिक-एसिड' पड़ गया। इसको आप योगरूढ़ि कहें या रूढ़ि। वस्तुतः रूढ़ि शब्द से इसमें कुछ यौगिकत्व आया। फिर वह योगरूढ़ि हो गया।

सिकोड़ा और कहीं फैलाया। भाषायें मूल में एक थीं। अब इतनी अलग-अलग हो गईं कि उनके करण युद्ध हो जाते हैं। हम यहाँ कुछ वैदिक शब्दों का इस दृष्टि से अध्ययन करेंगे।

(१) ऋग्वेद १०, ६३, १ में शब्द *'आप्य'* आया है। सायण भाष्य में इसका अर्थ यह दिया है:—*'ज्ञातेयं, मनुष्यैः सह बन्धुत्वं'*। जयदेव भाष्य में इसका अर्थ है:—*'बन्धुत्व या जलों द्वारा करने योग्य सत्कार'*। इनके सम्बन्धों पर विचार कीजिये। *'अप्'* नाम है *'जल'* का। आप्य हुआ 'जलवाला'। जलवाला = वह क्रिया जिसमें जल का प्रयोग हो = जल दिया जाय वह क्रिया = जल पिलाया जाय वह क्रिया = खातिर या सत्कार किया जाय वह क्रिया = सत्कार द्वारा प्रेम प्रदर्शित किया जाय वह क्रिया = बन्धुत्व या 'ज्ञातेयं' जातिवाला कर्म। जैसे गेहूँ से हलवा बनाने तक बहुत सी क्रमिक अवस्थायें पार करना होता है, उसी प्रकार यौगिक से योगरूढ़ि या रूढ़ि बनने तक अनेक क्रियाओं का व्यापार हो जाता है। यह यात्रा इतनी धीमी होती है कि पता नहीं चलता।

वैदिक वाङ्मय का सिद्धान्त यह है कि वैदिक शब्द आरम्भ में विशुद्ध यौगिक होने चाहिये। अर्थात् धात्वर्थ की अपेक्षा से उनमें पूरी तरलता होनी चाहिये। तरलता का अर्थ यह है कि उनका वाच्य हर वस्तु हो सकती है जिस पर धात्वर्थ लागू हो सकता हो। यदि वेद ईश्वरोक्त है तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि ईश्वर-निर्मित सब वस्तुयें तरलतम हैं। 'पानी' को हम

'पानी' कहते हैं क्योंकि वह हमारे पीने की वस्तु है। परन्तु 'पानी' का वाच्य जो पदार्थ (पद का अर्थ या वाच्य वस्तु) है वह तो केवल पीने की वस्तु नहीं है। आक्सीजन और हाईड्रोजन से बनी हुई (H_2O) वस्तु तो पीने के अतिरिक्त अन्य सैकड़ों कामों में आती है। अतः पानी की यह आरम्भिक या मौलिक अवस्था जिसको संस्कृत में 'आप्' कहते हैं तरलतम है। परन्तु जब मनुष्य उससे सम्बन्ध जोड़ता है तो उसके सम्पर्क में आते ही वह पीने की वस्तु अर्थात् पानी बन जाती है। अर्थात् उसकी तरलता में कुछ ठोसपन आगया। इसी प्रकार 'आपः' जिसके धात्वर्थ में व्यापकता थी पीने की वस्तु होकर 'पानी' हो गया। इस ठोसपन का नाम है 'योगरूढ़ि'। 'आप' शब्द से संभवतः फारसी का 'आब' शब्द बना हो। परन्तु 'आब' का अर्थ पानी होते हुये भी उसमें तरलता बिल्कुल बाकी नहीं रही। इसीलिये 'आब' एक नितान्त रूढ़ि शब्द हो गया।

एक और शब्द लीजिए। 'सपना' या 'स्वप्न'। इसको फारसी भाषा में 'ख्वाब' कहते हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर इलाहाबादी का एक पद है—'हम ख्वाब देखते हैं, वह देखते हैं सपना'। वह हिन्दू-मुसलमानों के विषय में कहते हैं कि बात वही है। क्रिया एक ही है। मुसलमान उसको 'ख्वाब' कहता है और हिन्दू 'सपना'। अकबर के लिये यह दोनों रूढ़ि शब्द थे क्योंकि धात्वर्थ का किंचित् भी लव-लेश शेष नहीं रहा था। परन्तु यदि हम धात्वर्थ पर विचार करें तो इसके भी पुराने रूपों में

यौगिकत्व और योग रूढ़ित्व विद्यमान था। इन शब्दों का इतिहास इसका साक्षी है। वह इतिहास क्या है? 'ख्वाब' वस्तुतः संस्कृत के 'ष्वाप्' का अपभ्रंश है, 'ष्' जो मूर्धन्य है उसको कण्ठ से 'ख' के समान भी बोलते हैं। आजकल भी कुछ संस्कृतज्ञ 'पुरुष' को 'पुरुख' बोलते हैं। इस मूर्धन्य 'ष्' का दन्ती 'स' होकर 'स्वाप्' हो जाता है। अतः 'स्वाप्' और 'ख्वाब' इतने भिन्न नहीं जितने समझे जाते हैं। 'स्वाप' से 'सपना' बनकर हिन्दी हुआ। फारिस में जाकर वही शब्द 'ख्वाब' हो गया। फारिस (ईरान) में जाकर उसका धात्वर्थ सर्वथा लुप्त हो जाने से वह नितान्त रूढ़ी हो गया। हिन्दी में धात्वर्थ का कुछ थोड़ा सा लेश रहा अतः उसमें कुछ यौगिकपन शेष है। परन्तु और पीछे चलिये और 'स्वप्न' के आरंभिक अर्थ पर विचार कीजिये। वहाँ आप दार्शनिक सूक्ष्म जगत् में विचरने लगते हैं। वेदान्त दर्शन में—*'स्वाप्यात्'*[२] एक सूत्र आता है। स्वप्न को स्वप्न इसलिये कहते हैं कि *'स्वस्मिन् अपीतो भवति'*। जीव बाहरी जगत् से अपनी वृत्तियों को हटाकर अपने भीतर स्थित हो जाता है। इसी को भिन्न-भिन्न स्तरों पर 'स्वप्न' और 'सुषुप्ति' कहते हैं। अब 'स्वप्न' का यौगिक अर्थ हुआ 'अपने आप में स्थित होना'। योगरूढ़ि अर्थ हुआ 'वह अवस्था जिसे सुषुप्ति कहते हैं'। और साधारण 'सपना' केवल रूढ़ि बन गया।

जिस प्रकार जल जो तरल पदार्थ है मनुष्य के सम्पर्क में

---

२ १।१।६

आते ही पीने का पदार्थ बन जाता है, उसी प्रकार नित्य शब्द जो तरलतम हैं मानवी भाषा में योगरूढ़ि हो जाते हैं। जब ऋषियों ने वेदों का उच्चारण मात्र किया तभी उनकी तरलता कुछ सङ्कुचित होकर योगरूढ़ि बन गई। ऋग्वेद के 'पुरोहित' शब्द को लीजिये। पहले इस में नित्यता और तरलता थी, जब मनुष्य ने अपने सामने रक्खी हुई (पुरोधा, पुरोहित) वस्तु को 'पुरोहित' कहा तो उसके यौगिकत्व में संकोच आ गया और वह योगरूढ़ि बन गया। इसी प्रकार पिता, पुत्र आदि अनेक शब्द हैं।

इस सिद्धान्त के अनुकूल वैदिक शब्दों को यौगिक या योगरूढ़ि कहा है। और जब मनुष्य के व्यवहार में आते आते कालान्तर में वह मानवी भाषा या लौकिक भाषा बन गये तो उनकी तरलता बहुत कम हो गई और वे ठोस हो गये। नित्य शब्द और अनित्य शब्दों में यही भेद हैं, और वेदों के भाष्य करने में उन लोगों को इसका ध्यान रखना है जो वेदों को ईश्वरोक्त या नित्य मानते हैं।

इस विषय में सायण और दयानन्द दोनों का मत एक ही है जैसा कि हम पिछले अध्याय में उन्हीं के कथनों से दिखा चुके हैं। अब देखना यह है कि इस नियम का पालन इन दोनों आचार्यों ने किस प्रकार और कहाँ तक किया है।

मौलिक सिद्धान्तों का सायण को पता था। वह पाणिनि व्याकरण और निरुक्त से अभिज्ञ थे। उनके समय में व्याकरण

जगत् में पाणिनि का ही प्रचार था जैसा कि स्वामी दयानन्द के समय में भी रहा। अतः पातंजलि और पाणिनि से पहले जो वैयाकरण या व्याकरण के आचार्य रहे होंगे उनका उल्लेख इन दोनों के ग्रन्थों में नहीं मिलता। परन्तु सायण ने शब्दों की व्युत्पत्ति बताने में प्रायः पाणिनि व्याकरण या उणादि कोष का ही आश्रय लिया है। हम यहाँ कुछ शब्द देते हैं :—

इन्द्रः (१ । ३ । ४)

सायण—*इन्द्रशब्दं यास्को बहुधा निर्वक्ति।* (नि० १० । ८)
इन्द्रं इरां दृणाति इति। वा, इरां ददाति इति।......इन्दौ रमते इति। वा इधे भूतानि इति।.....भूतानि प्राणिदेहान् इन्धे जीवचैतन्य-रूपेणान्तः प्रविश्य दीपयति इति इन्द्रः।......सच परमेश्वरः शत्रूणां दारयिता भीषयिता इति इन्द्रः।

दयानन्द—*परमेश्वरः सूर्य्यः वा।* (शेष सायण के समान)

यहाँ सायण और दयानन्द दोनों ने 'इन्द्र' के यौगिक अर्थ किये हैं। 'इन्द्र' परमेश्वर का वाचक है इस विषय में दोनों आचार्य समान हैं।

स्वसराणि (१ । ३ । ८)

सा०—*सरतीति सरः सूर्य्यः स्वसरोयेषां तानि स्वसराणि अहानि।*

द०—सायणवत्।

अर्थ है 'अहानि' या दिन।

गोभिः (१ । ७ । ३)

सा०—*रश्मिभिः.........अन्नवाजलैः।*

द०—*रश्मिभिः।*

अद्रिम् (१ । ७ । ३)

सा०—*(१) पर्वत प्रमुखं सर्वं जगत्।*

(२) मेघम्।

द०—*मेघम्।*

वृत्रेषु (१ । ७ । ५)

सा०—*'वृतु वर्तने'। प्रतिकूलतया वर्तन्ते इति वृत्राणि शत्रु कुलानि।*

द०—*मेघावयवेषु।*

कृष्टीः (१ । ७ । ८)

सा०—*मनुष्यान्। कर्षन्तीति कृष्टयः। 'क्ति च क्तौ च संज्ञायाम्।' इति क्तिच्।*

द०—*मनुष्यान्, आकर्षणादि व्यवहारान् वा।*

सवना (ऋ० १ । ४ । २)

सा०—*सूयते सोम एष्विति सवनानि अधिकरणे ल्युट्।*
(पा० सू० ३-३-११७)

द०—*ऐश्वर्य युक्तानि वस्तूनि प्रकाशयितुम्। सु प्रसवैश्वर्य-योरित्यस्माद् धातो ल्युंट् प्रत्ययः।*

यहाँ व्युत्पत्तियाँ तो दोनों आचार्यों की ठीक ही हैं। परन्तु विनियोग के दृष्टिकोण से सायण ने शब्द की यौगिकता और तरलता कम करके सोम-सवन तक ही सीमित कर दी। परन्तु दयानन्द ने 'सु' धातु के दोनों अर्थों को दृष्टि में रखकर शब्द को अधिक व्यापक बना दिया।

शतक्रतो (१ । ५ । ८)

सा०—*शतक्रतो बहुकर्मयुक्त इन्द्र।*

द०—*बहुकर्मवन्*

यहाँ भी वही बात है।

पुरूतमम् (१ । ५ । २)

सा०—*पुरून् बहून् शत्रून् तमयति ग्लापयति इति पुरूतमः।*

द०—*पुरून् बहून् दुष्टस्वभावान् जीवान् पापकर्म फलदायेन तमयति ग्लापयति तं परमेश्वरं तत्फलभोग हेतुं वायुं वा।*

यहाँ व्युत्पत्ति वही है। परन्तु सायण ने देवतावाद को ध्यान में रखकर 'इन्द्र' अर्थ किया है और स्वामी दयानन्द ने अर्थ की मौलिकता को दृष्टि में रखकर परमेश्वर अर्थ किया है। दृष्टिकोण के भेद ने अर्थ में बहुत बड़ा भेद कर दिया।

ऋषिम् (१ । १० । ११)

सा०—*'ऋषी गतौ' 'अतीन्द्रियद्रष्टारम्'।*

द०—*वेदमन्त्रार्थ द्रष्टारम्।*

मनुर्हितः (१ । १३ । ४)

सा०—*मनुना मन्त्रेण मनुष्येण वा यजमानादि रूपेण स्थापितः त्वं होता । मन्यते इति मनुः 'मन ज्ञाने' ।*

द०—*विद्वद्भिः क्रियासिध्यर्थं यो मन्यते । धृतः सन् हितकारी ।*

यहाँ सायण ने शुद्ध यौगिक अर्थ लिये हैं। मनु राजा की ओर संकेत नहीं है। स्वामी दयानन्द भी ऐसा ही मानते हैं।

चमूषदः (१ । १४ । ४)

सा०—*'चमु छमु जमु शमु अदने' । चक्यते भक्ष्यते येषु चमसेषु ते चम्वः । (कृषि चमि······(उणादि सू० १ । ८१) इत्यादिना ऊँ । तत्रसीदन्तीति चमूषदः ।*

द०—*ये चमूषु सेनासु सीदन्ति ते ।*

दोनों आचार्यों ने यौगिक अर्थ देकर योगरूढ़ि बनाया है। सायण पर यज्ञ का प्रभाव है। दयानन्द जीवन के अन्य विभागों पर भी दृष्टि रखते हैं।

कण्वासः (१ । १४ । ५)

सा०—*कण शब्दार्थः । कणन्तिध्वनन्ति स्तोत्रादिपाठेन इति कण्वा ऋत्विजः । मेधाविनः ।*

द०—*मेधाविनो विद्वांसः ।*

यहां कण्व ऋषि से तात्पर्य नहीं है।

शचीनाम् (१ । १७ । ४)

सा०—*अस्मदीय कर्मणाम् । 'अपः अप्नः' इत्यादिषु षड्विंशति संख्याकेषु कर्मनामसु शची शमी (* निघण्टु २ । १ । २१ *) इति पठितम् ।*

द०—*वाणीनां सत्कर्मणां वा ।*

यहाँ दोनों भाष्यकारों ने 'शची' का अर्थ कर्म किया है, इन्द्र देवता की स्त्री नहीं ।

शच्या (१० । १०४ । ३)

सा०—*शक्त्या, वा कर्मणायुक्तः ।*

शचीवः (१० । १०४ । ४)

सा०—*शक्तिवन् ।*

नाकस्य (१ । १९ । ६)

सा०—*कः सुखं । तत् यस्मिन्नास्ति । असौ अकः इति बहुव्रीहिं कृत्वा पश्चात् नञ् । न अको नाक इति नञ् तत्पुरुषः ।*

द०—*सुखहेतोः सूर्यालोकस्य ।*

यहाँ 'नाक' का अर्थ स्वर्ग विशेष या स्थान विशेष नहीं, अपितु दुःख रहित पदार्थ का नाम 'नाक' है ।

ऋभवः (१ । २० । ४)

सा०—*एतन्नामकाः देवाः । ऋभवः उरु भान्ति इति, वर्तेन*

भान्तीति वा । (नि० ११ । १५)

द०—*मेधाविनः* ।

सायण पर देवतावाद का प्रभाव है। दोनों ने 'ऋभवः' का अर्थ किया है मेधावी या बुद्धिमान लोग।

विष्णुः (१ । २२ । १६)

सा०—*परमेश्वरः* । *'विषेः किच्च'* (उ० सू० ३ । ३१६) इति *नु प्रत्ययः* । *कित्वात् न गुणः* ।

द०—*वेवेष्टि, व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः* ।

शिप्रिन् (१ । २९ । २)

सा०—*शोभनहनूयुक्तम्* । *शिप्रे हनू नासिके वा* (निरु० ६ । १७) *इति यास्कः* ।

द०—*शिप्रे प्राप्तुमर्हे प्रशस्ते व्यावहारिक पारमार्थिकसुखे विद्येते यस्य सभापतेः तत् सम्बुद्धौ* ।

यहाँ व्युत्पत्ति लगभग समान होते हुये भी अर्थ में बहुत भेद होगया। सायण ने 'शिप्र' का अर्थ किया नाक या ठुड्डी। दयानन्द ने इसका अर्थ किया 'प्राप्त होने के योग्य प्रशस्त सुख'। 'सुशिप्र' शब्द वेद में लगभग २० बार आया है। ऋग्वेद (१-३०-११) में '*शिप्रिणीनाम्*' शब्द आया है। यह स्त्रीलिंग शब्द है। सायण ने इसका अर्थ किया है 'लम्बी ठुड्डी या नाक वाली गायें' तथा स्वामी दयानन्द ने 'विदुषी देवियाँ'। इसका अर्थ 'सुन्दर ठुड्डीवाला' करना शृंगार रस का काव्य हो जाता है। परन्तु स्वामी दयानन्द का सुख या आनन्द

वाला अर्थ करना अर्थों को अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध बना देता है। शब्द वही है। परन्तु दृष्टिकोण का भेद है।

राधानाम् (१ । ६० । ५)

सा०—*धनानाम्। राध्नुवन्ति एभिरिति राधानि धनानि।*

द०—*राध्नुवन्ति सुखानि येषु पृथिव्यादि धनेषु तेषाम्।*

नोट—यहाँ 'राधा' का अर्थ 'धन' है। ब्रज की राधारानी या राधास्वामियों की राधा से तात्पर्य नहीं है। इस विषय में दोनों आचार्य एक मत हैं।

रेवती (१ । ३२ । १३)

सा०—*श्री राज्यादि धनवत्यः। रयि शब्दात् मतुप्। 'रयेर्मतौ बहुलम्'। इति संप्रसारणम् परपूर्वत्वम्।*

द०—*रयिः शोभा धनं प्रशस्तं विद्यते यासु ता प्रजाः।*

दोनों आचार्यों का मत लगभग समान है। रेवती को 'रयि' से व्युत्पन्न किया है। अर्थात् 'धन वाली'। रेवती नाम की किसी देवी या स्त्री से अभिप्राय नहीं है।

मघोनः (ऋ० १ । ३१ । १२)

सा०—*धन युक्तान्। शसि 'श्व युवमघोनामतद्धिते* (पा० सू० ६ । ४ । १३३) *इति संप्रसारणम्।*

द०—*मघं प्रशस्तं धनं विद्यते येषां तान्। मघमिति धननामधेयम्।* (निरु० २ । ७)

यहाँ दोनों आचार्यों ने यौगिक अर्थ लिये हैं। देवता सम्प्रदाय

'मघवा' से इन्द्र देवता का अर्थ लेता है। सायण ने यह अर्थ नहीं किया।

कीरेः (ऋ० १ । ३१ । १३)

सा०—*स्तोतुः । 'कृत संशब्दने'* ।

द०—*किरति विविधतया वाचा प्रेरयतीति कीरिः स्तोता तस्मात्* ।

स्तुति करने वाले को 'कीरिः' कहा। शायद शब्द करने के कारण ही 'कीर' शब्द तोते के लिये रूढ़ि हो गया।

त्रिकद्रुकेषु (१ । ३२ । ३)

सा०—*ज्योतिः, गौः, आयुः एतन्नामका त्रयो यागा त्रिकद्रुकाः उच्यन्ते* ।

द०—*त्रय उत्पत्ति स्थिति प्रलयाख्या, कद्रवो विविधकला येषां तेषु कार्यपदार्थेषु* ।

सायण ने यज्ञ सम्प्रदाय के प्रभाव में 'त्रिकद्रुक' का अर्थ किया है, तीन विशेष याग जिनके पारिभाषिक नाम हैं—ज्योतिः, गौः, आयुः। स्वामी दयानन्द ने यौगिक अर्थ करके उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय यह तीन नित्य-कार्य लिये हैं। प्रतीत होता है कि जब यज्ञ-सम्प्रदाय का प्राबल्य हुआ होगा और यज्ञ की परिभाषायें बनने लगी होंगी। उस समय ज्योतिः, गौः, आयुः आदि परिभाषिक नाम नियत किये गये होंगे।

असुर (१ । ३५ । ७)

सा०—*सर्वेषां प्राणदः* । (सब को प्राण देने वाला)

द०—*सर्वेभ्यः प्राणदः।* (सबके लिये प्राण देने वाला)

असुरः (१ । १७४ । १)

सा०—*शत्रूणां निरसितः* (शत्रुओं का नाशक)

द०—*मेघ इव वर्तमानः* (मेघ के समान)

असुरः (१ । ५४ । ३)

सा०—*असुः प्राणो बलं वा तद्वान्* (प्राण या बल वाला)

द०—*मेघो वा यः प्रज्ञां राति ददाति सः। असुरिति मेघनाम* (निघ० १।१०) *असुरिति प्रज्ञा वा* (निघ० ३।९)

असुरः (२ । १ । ६)

सा०—*असुर्बलं तस्य दाता आदित्यरूपः त्वमसि।* (हे अग्नि असुर यानी बल के दाता हो)

द०—*मेघ*

असुर (१० । ९६ । ११)

सा०—*असुः प्राणः। तद्वन्। मत्वर्थीयो रः। तादृशेन्द्र।* (प्राण का दाता इन्द्र)

असुरः (१० । ११ । ६)

सा०—*प्राणवान्, प्रज्ञावान् वा ब्रह्मेतिशेषः* (प्राण या प्रज्ञा-वाला, ब्रह्म)

यहाँ स्वर भेद होने पर भी अर्थ भेद नहीं है।

पर्वतः (१ । ३ । ७)

सा०—बहुविध पर्वयुक्तः। पर्ववान् पर्वतः। मत्वर्थीयः त

प्रत्ययः ।

द०—*मेघः ।*

दोनों अर्थ यौगिक और योगरूढ़ि हैं। जैसे पहाड़ में पर्व या तहें होती हैं उसी तरह मेघ में भी। अतः पर्वत के दोनों अर्थ हो सकते हैं।

मायाभिः (१ । ५१ । ५)

सा०—*(१) जयोपायज्ञानैः । मायेति ज्ञाननाम 'शची, माया'* (नि० ३।६।६)

(२) लोक प्रसिद्धैः कपटैः ।

द०—*अज्ञानोपायैः ।*

सायण ने लोक प्रसिद्ध अर्थ क्यों दिया ? वेद में तो पुराना अर्थ ही आना चाहिये था।

आर्य्याय (ऋ० १ । ५६ । २)

सा०—*विदुषे मनवे, यजमानाय वा ।* (विद्वान् मनुष्य या यजमान के लिये)

द०—*उत्तम गुण स्वभावाय ।* (उत्तम गुण और स्वभाव वाले के लिये)

पितुम् (ऋ० १ । ६१ । ७)

सा०—*सोमलक्षणं अन्नम् ।*

द०—*सुसंस्कृतं अन्नम् ।*

शचीवः (ऋ० १ । ६२ । १२)

सा०—*कर्मवन् इन्द्र*

द०—*शची प्रशस्ता वाक् प्रज्ञा, कर्म वा विद्यतेऽस्मिन् तत् सम्बुद्धौ ।*

यहाँ सायण ने भी 'शची' का अर्थ इन्द्र की रानी नहीं किया। परन्तु 'इन्द्र' को स्थिर रक्खा। दयानन्द के अर्थों में व्यापकता है।

अजः (१ । ६७ । ५,६)

सा०—*अजति गच्छति इत्यजः सूर्य्यः। यद्वा न जायते इत्यजः । जन्मरहित इत्यर्थः*

द०—*यः परमात्मा कदाचिन्नजायते सः ।* (अर्थात् न जन्म लेने वाला ईश्वर)

गाः (१ । ८४ । १३)

सा०—*गतिमतो अश्वान् ।*

द०—*भूमिः ।*

अरिः (ऋ० ८ । ७१ । १६)

सा०—*अरणशीलः वायुः ।*

अत्रिणाम् (१ । ८६ । १०)

सा०—*अत्तारम् राक्षसादिकम् । यद् वा पुरुषार्थस्यात्तारं कामक्रोधादिकं सर्वम् ।* (राक्षस आदिभक्षक या कामक्रोधादि पुरुषार्थ को नष्ट करने वाले गुण)

द०—*परसुखमत्तारम् ।* (दूसरे के सुख को नष्ट करने वाले)

मरुतः (ऋ० १ । ८८ । १)

सा०—(१) *मितं निर्मितं अन्तरिक्षं प्राप्य रुवन्ति शब्दं कुर्वन्ति इति मरुतः।* (जो निर्मित अन्तरिक्ष को पाकर शोर करते हैं)

(२) *अमितं भृशं शब्दकारिणः।* (बहुत शोर करने वाले)

(३) *मितं स्वैर्निर्मितं मेघं प्राप्य विद्युदात्मनः रोचनाः।* (जो अपने बनाये हुये बादलों को पाकर बिजली के रूप में चमकते हैं)

(४) *महत्यन्तरिक्षे द्रवन्तीति मरुतः।* (जो अन्तरिक्ष में बहते हैं वह मरुत हैं)

(५) *'सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान् वायुश्च सर्वगः गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानु शासनम्'।*

(६) *पौराणिकास्तु आचक्षते 'मारीचात् कश्यपात् सप्तगणात्मका एकोनपञ्चाशत्संख्याको मरुतो जज्ञिरे' इति।* (पुराणों का कथन है कि मरीच कश्यप से सात-सात करके ४९ मरुत उत्पन्न हुये)

द०—*सभाध्यक्ष-प्रजा मनुष्याः।* (सभाध्यक्ष से पाले जाने वाले मनुष्य)

यहाँ सायण ने पुराण, गाथा तथा व्याकरण आदि द्वारा सिद्ध कई अर्थ दिए हैं। वेदों के ईश्वरकृतत्व के साथ कौन सा अर्थ सुसंगत है यह देखना है। स्वामी दयानन्द तो वेदों को लोकोपकारक

समझते हुये 'मरुत्' का अर्थ लेते हैं 'सामान्य प्रजाजन' जिनको आजकल की भाषा में 'जनता' कहते हैं।

वसिष्ठ (७ । १ । ८)

सा०—श्रेष्ठ।

द०—अतिशयेन वसो।

दुर्वाससे (७ । १ । १९)

सा०—दुष्टवस्त्राय।

द०—दुष्टवस्त्रधारणाय।

मघवद्भ्यः (७ । १ । २०)

सा०—हविष्मद्भ्यः।

द०—बहुधन युक्तेभ्य धनाढ्येभ्यः।

गृत्सः (७ । ४ । २)

सा०—मेधावी, 'गृत्स इति मेधाविनाम' (निरुक्त ६ । ५)।

द०—मेधावी

आर्य्याय (७ । ५ । ६)

सा०—कर्मवते जनाय।

द०—सज्जनाय मनुष्याय।

पुरन्दरस्य (७ । ६ । २)

सा०—पुरां दारयितुः अग्नेः।

द०—शत्रूणां पुरां विदारकस्य।

यहाँ 'पुरन्दर' का अर्थ इन्द्र देवता नहीं। यह 'अग्नि' का विशेषण है।

दस्यून् (७ । ६ । ३)

सा०—*वृथा कालस्य नेतॄन्।*

द०—*दुष्टान् साहसिकाँश्चोरान्।*

जारः (७ । ९ । १)

सा०—*सर्वेषां प्राणिनां जरयिता।*

द०—*रात्रेर्जरयिता सूर्यः।*

कृपणे (१० । ९९ । ९)

सा०—*स्तोत्रे, 'कृपतिः स्तुतिकर्मा'।*

अश्विनौ (१ । ८९ । ३)

सा०—*अश्ववन्तौ यद्वा सर्वं व्याप्नुवन्तौ। यास्कः 'अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेन अन्यो ज्योतिषा अन्योऽश्वैः अश्विनौ इति और्णवाभः। तत् कौ अश्विनौ द्यावा-पृथिव्यौ इत्येके सूर्याचन्द्रमसौ इत्येके। राजानौ पुण्यकृतौ इति ऐतिहासिकाः* (अश्व वाले दो। या व्यापक दो। यास्क ने और्णवाभ का मत दिया है कि ज्योति से और किरणों से व्यापक दो। कौन दो? द्यौलोक और पृथिवी लोक, या सूर्य और चाँद, या दो प्रसिद्ध पुण्यात्मा राजे)

द०—*शिल्पविद्या अध्यापक-अध्यापन क्रिया युक्तौ। अग्नि*

जलादि इन्द्रं वा। (शिल्पविद्या के सीखने-सिखाने वाले या आग-पानी आदि जोड़े।

महिषस्य (१ । ६५ । ६)

सा०—*महतः।* (बड़े)

द०—*महतो लोकसमूहस्य।*

त्वष्टु (१ । ६५ । २)

सा०—*दीप्तात् मध्यमात् वायोः सकाशात्*

द०—*विद्युतो वायोर्वा*

यहाँ 'त्वष्टा' देवता का अर्थ नहीं लिया गया।

सिंह (१ । ६५ । ५)

सा०—*सहनशीलं, अभिभवनशीलं तं अग्निम्।*

द०—*हिंसकम्।*

गोभिः (१ । ६५ । ८)

सा०—*गन्त्रीभिः।*

द०—*किरणैः।*

रुद्राय (१ । ११४ । १)

सा०—*(१) रोदयति सर्वं अन्तकाले इति रुद्रः।*

(२) रुत् संसाराख्यं दुःखं तद् द्रावयति अपगमयति विनाशयतीति रुद्रः।

(३) रुतः शब्दरूपाः उपनिषदः। ताभिर्द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः।

(४) रुत् शब्दात्मिका वाणी। तत् प्रतिपाद्या आत्म-विद्या वा तामुपासकेभ्यो राति ददाति इति रुद्रः।

(५) रणद्धि आवृणोति इति रुत् अन्धकारादि तत् द्रणाति विदारयतीति रुद्रः।

(६) कदाचित् देवासुर संग्रामे अग्न्यात्मको रुद्रो देवैर्निक्षिप्तं धनमपहृत्यनिरगात्। असुरान् जित्वा देवा एनमन्विष्ठ दृष्ट्वा धनमपाहरन् तदानीमरुदत्। तस्मात् रुद्र इत्याख्यायते। (तै० सं० १।५।१।१)

८०—कृतचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याय।

सायण ने 'रुद्र' के ६ अर्थ दिये हैं—(१) मृत्यु से सबको रुलाने वाला, (२) संसार के दुःख को दूर करने वाला, (३) (रुत) उपनिषदों से प्रतिपादक, (४) आत्मविद्या का देने वाला, (५) अन्धकार को दूर करने वाला, (६) देवासुर संग्राम में देवों द्वारा फेंके धन को अग्न्यात्मक रुद्र उठा ले गया। देवों ने तलाश करके उसको निकाला तब वह रोने लगा, इसलिये 'रुद्र' कहलाया। यह कथा तैत्तिरीय संहिता में है। वेद का अर्थ करने में यह कथा कहाँ तक विश्वसनीय है यह प्रश्न है। सायण अच्छा करते यदि ऐसी गाथाओं की उपेक्षा करते और अपने भाष्य में उनका आदर न करते।

वराहम् (१ । ११४ । ५)

सा०—*वराहारम्। उत्कृष्ट भोजनम्। यद्वा वराहवत् दृढाङ्गम्।*

द०—*मेघमिव।*

अत्रिम् (१ । ११६ । ८)

सा०—*हविषमत्तारम्।* (हविखाने वाले)

द०—*अत्तारम्।* (खाने वाला)

मायया (१ । १४४ । १)

सा०—*कर्तव्य विशेष प्रज्ञया। सामर्थ्येन्।*

मायया (५ । ६३ । ३)

सा०—*'मायेति' प्रज्ञानाम।*

द०—*प्रज्ञया।*

भरतस्य सूनवः (२ । ३६ । २)

सा०—*सर्वस्य जगतः भर्तू रुद्रस्य पुत्राः।* (सब जगत् के पालक ईश्वर के पुत्र)

द०—*धारकस्य पुत्राः*

यहाँ भरत के पुत्र ऐतिहासिक 'भारत' का अर्थ सायण ने भी नहीं लिया।

गोत्राः (३ । ४४ । ७)

सा०—*गामुदकं रश्मिभिरावृतं वर्षासु ऋतुषु त्रायन्ते पालयन्तीति गोत्रा मेघाः।* (बादल जो वर्षा में पालते हैं)

द०—*पृथिवी*

यातुधान्यः (१ । १६१ । ८)

सा०—*यातवो यातनास्तीव्रवेदना तासां धात्रीरुत्पादयित्रीः महोरगीः राक्षसीर्वाः* । (बहुत कष्ट देने वाली सांपिनें या राक्षसियां)

द० —*यातूनि दुराचरणशीलानि दधति ताः* । (दुराचारिणी स्त्रियाँ)

त्वष्टा (२ । १ । ५)

सा०—*फलस्य साधु सम्पादयिता* ।

द०—*छेत्ता* ।

दाने (२ । १३ । ७)

सा०—*उपलूयन्ते सस्यानि अत्र इति दानं क्षेत्रं । तस्मिन्* । (खेत जिसमें अनाज काटा जाता है)

द०—*दीयते येन तस्मिन्*

यहाँ थोड़े से शब्द नमूने के लिये दे दिये हैं। यह दिखलाने के लिये कि जिस प्रकार आचार्य दयानन्द यौगिक अर्थ करते हैं उसी प्रकार आचार्य सायण भी करते थे, और जहाँ कहीं सायण ने इस नीति में परिवर्तन किया और लौकिक या गाथा-कथित आधार का आश्रय लिया वहाँ वेदों की मौलिकता में बाधा पड़ गई। चाहिये तो यह था कि श्रुति का अनुकरण स्मृति करती परन्तु हो गया उलटा। वेद को अकारण ही स्मृति के पीछे घसीटना पड़ा। वेद के पाठकों के लिये यह बात महत्व की है।

५

विनियोग और भाष्य का सम्बन्ध

स्वामी दयानन्द और सायणाचार्य के दृष्टिकोणों में बहुत भेद पाया जाता है। स्वामी दयानन्द का उद्देश्य यह था कि वेदों की शिक्षा को वैदिक और आर्य संस्कृति का मूलाधार मानकर वर्तमान युग के मनुष्यों के जीवन को वेदों की शिक्षा द्वारा परिष्कृत किया जाय। इसके लिये वेद-भाष्य की आवश्यकता समझी गई और उन्होंने यत्न किया कि प्राचीन भावों को आधुनिक भाषा में व्यक्त करें। इसलिये उन्होंने ऋग्वेद से आरम्भ किया क्योंकि ऋग्वेद का प्राथम्य तो सर्व सम्मत है। सायण को भी यह बात स्वीकार है।

परन्तु सायण ने पहले यजुर्वेद से आरम्भ किया है। ऋग्वेद से नहीं। अपने उपोद्धात में उन्होंने इस प्रश्न को स्वयं उठाया है और एक लम्बे व्याख्यान के पश्चात् यह समाधान किया है कि—

अस्त्वेवं सर्व वेदाध्ययन तत्पारायण ब्रह्म यज्ञजपादौ ऋग्वेदस्यैव प्राथम्यम्। अर्थज्ञानस्य तु यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तत्र तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात् तद् व्याख्यानमेवादौ युक्तम्।

अर्थात् जिनको सब वेदों का अध्ययन करना हो, ब्रह्मयज्ञ, जप आदि करना हो उनके लिये ऋग्वेद ही मुख्य है, परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान के लिये जिससे अर्थ (कर्म के फल) का ज्ञान होता है यजुर्वेद ही प्रधान है। अतः हमने यजुर्वेद को ही पहले लिया।

आगे और स्पष्ट करते हैं :—

एवं सति अध्वर्युसंबन्धिनि यजुर्वेदं निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपावयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतः व्याख्यानं युक्तम् ।

इसका तात्पर्य यह है कि अध्वर्यु का यजुर्वेद से सम्बन्ध है। उसी से यज्ञ का शरीर बनता है। उस यज्ञ की पूर्त्ति के लिये स्तोत्र और शस्त्र की आवश्यकता होती है। यह काम दूसरे दो वेदों (ऋग्वेद और सामवेद) से पूरा होता है। इसलिये पहले यजु की व्याख्या करनी उचित ही थी। फिर ऋग्वेद का नम्बर है।

अतः सिद्ध हो गया कि सायण के मत में ऋग्वेद और सामवेद का केवल इतना ही मूल्य है कि यज्ञों को करने में उनका पाठ या गान हो। इसीलिये सायण ने ऋग्वेद के सूक्तों का भाष्य करते हुये पहले उनका विनियोग दिया है अर्थात् अमुक मन्त्र कहाँ-कहाँ पढ़ना होगा। उसी को दृष्टि में रख कर उनका अर्थ किया गया। इस दृष्टिकोण का भाष्य पर क्या प्रभाव पड़ा यह हम आगे लिखते हैं।

उपोद्घात में सायणाचार्य ने आरम्भ ही विनियोग से किया है। यथा :—

तस्य ग्रन्थस्य कृत्स्नस्याप्याम्नातक्रमेण सामान्य विनियोगो ब्रह्म यज्ञजपादौ पूर्वमेवाभिहितः। विशेष विनियोगस्तु तत्-तत्-क्रतौ सूत्र-कारेण प्रदर्शितः। स च त्रिविधः सूक्तविनियोगः तृचादिविनियोगः एकैकस्या ऋचो विनियोगश्चेति।

अर्थात् समस्त ऋग्वेद में अग्निमीले (१।१।१) से लेकर 'यथा वः सुसहासति' (१०।१९१।४) तक ब्रह्म यज्ञ जप आदि का विनियोग पहले वर्णित हो चुका है। शेष विनियोग क्रतु विशेष में अर्थात् उन-उन यागों में सूत्रकार ने नियत कर दिया है। यह विनियोग तीन प्रकार का है। अर्थात् कुल सूक्त भर का, तृच[1] आदि का और एक-एक ऋचा का।

साधारण पाठकों के लाभार्थ हम बता दें कि विनियोग क्या वस्तु है। भिन्न-भिन्न यागों की भिन्न-भिन्न क्रियाओं के अवसर पर वेद मन्त्रों के पढ़ने की प्रथा का जब प्रचार हुआ तो यह कल्पना कर ली गई कि अमुक मन्त्र अमुक स्थल पर पढ़े जांय, या अमुक क्रिया अमुक मन्त्र के पाठ से की जाय। इसका नाम है विनियोग। विनियोग के लिये आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधा-यन आदि विद्वानों ने कल्पसूत्र बनाये जो इन इनके नाम से

[1] तीन ऋचाओं का मिलकर एक तृच होता है। जैसे ऋग्वेद के पहले सूक्त में ९ मंत्र हैं। पहले तीन का मिलकर एक तृच हुआ, ४ से ६ तक दूसरा तृच और ७ से ९ तक तीसरा तृच।

प्रसिद्ध हैं। सायण ने 'कल्प' का निम्न अर्थ किया है :—

'कल्प्यते समर्थ्यते याग प्रयोगोऽत्रेति'

अर्थात् कल्पसूत्र वह हैं जिनके द्वारा याग प्रयोग की विधि निश्चित की गई है। अर्थात् अमुक याग इस प्रकार करना चाहिये और अमुक वेद मन्त्र पढ़ने चाहिये।

पाठकवर्ग संभवतः पूछें कि जब सायण ने कल्पसूत्रों का अनुकरण करके वेद-भाष्य किया तो इसमें दोष क्या?

इसके लिये कुछ समीक्षा की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि क्या वेद मन्त्र उन-उन यज्ञों के लिये ही रचे गये और उनका उतना ही प्रयोग है। अथवा वेद मन्त्र पहले भी विद्यमान थे, और केवल पाठ मात्र की रक्षा के लिये उनका पीछे से निर्धारित यागों में प्रयोग कल्पित कर लिया गया। इन दोनों विचार-धाराओं में बड़ा भेद हो जाता है और भाष्य करते समय तो अर्थ का अनर्थ या घोर अनर्थ भी हो सकता है। उदाहरण के लिये एक वेद मन्त्र है :—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।[२]

इसका अर्थ तो केवल इतना है कि हे विद्वानों! हम कानों से भद्र सुनें, आंखों से भद्र देखें। यह अर्थ ठीक भी है, सुन्दर भी है और उदार भी है। परन्तु इसका विनियोग कान छेदने के संस्कार में किया जाता है। जो केवल कल्पित विनियोग है और मूल अर्थ से सम्बन्ध नहीं रखता। और इसी मन्त्र की व्याख्या

[२] ऋग्वेद १। ८९। ८

करते हुये सायणाचार्य ने निम्नलिखित विनियोग से आरम्भ किया है :—

'अस्ति सोम्य चरुस्तृतीयसवने। तेन चरुणा दैवतामिष्ट्वा इष्ट शेषे तस्मिन् बहु घृतमवनीय तस्मिन् वषट्कर्त्रा स्वकीया छाया द्रष्टव्या'।

कर्णवेध वालों ने केवल 'कर्ण' शब्द देखकर यह कल्पना कर ली कि यह कान छेदने का मन्त्र है। वस्तुतः कान छेदने का लवलेश भी मन्त्र में नहीं। वहाँ तो 'आंख' शब्द भी आया है। आंख के बेधने का प्रश्न नहीं, और घी में छाया देखने का तो दूरस्थ संकेत भी नहीं। इसलिये यदि विनियोग के आधार पर व्याख्या होगी तो यह गाड़ी के पीछे घोड़ा जोतने के समान विपर्यय होगा। यह ठीक है कि संभवतः ऋषियों ने वेदपाठ का प्रचार करने के लिये विशेष वेद मन्त्रों का विशेष दैनिक या सामयिक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु यह सम्बन्ध ईश्वरोक्त नहीं अपितु मनुष्य-कल्पित ही हुआ। मन्त्र का मौलिक अर्थ जानने में उसकी उपयोगिता नहीं और कहीं-कहीं तो भ्रम भी हो सकता है।

स्वामी दयानन्द ने भी विशेष अवसरों के लिये कुछ मंत्रों को भिन्न-भिन्न स्थानों से लेकर स्व-कल्पित क्रम दे दिया है। जैसे प्रार्थना के आठ मंत्र 'विश्वानिदेव'—आदि। परन्तु उन्होंने मूल अर्थों को बदला नहीं। अर्थों में वही मौलिक तरलता है। केवल उनके प्रयोग में विशिष्टता है। वह भी विरोधात्मक नहीं। संभव

है कि आरम्भ में विनियोग ऐसा ही रहा होगा। इस विषय में हम गवेषकों का ध्यान 'आम्नाय' शब्द की ओर खींचना चाहते हैं। वैशेषिक दर्शन में 'आम्नाय' वेद का समानार्थक है। पूर्व-मीमांसा, शाबर भाष्य तथा आरण्यक आदि में भी 'आम्नाय', 'आम्नात' आदि शब्दों का बाहुल्य है। चारों वेदों में यह 'आम्नाय' शब्द नहीं मिलता। 'म्ना' धातु में 'आ' उपसर्ग लगाकर यह शब्द पीछे से बना है। 'आम्नाय' का वास्तविक अर्थ 'वेद' नहीं। 'आम्नाय' का अर्थ है प्रचार में आये हुये वेद मंत्र। अर्थात् जब लोगों ने वेदों के मंत्रों को विनियोग के लिये चुन लिया और उनके पाठ की परम्परा पड़ गई तो उनका नाम 'आम्नाय' (tradition) पड़ गया। यह परम्परागत विनियोग उचित और अनुचित दोनों प्रकार का हो सकता है। उचित विनियोग भी वेद-भाष्य का आधार नहीं हो सकता, किसी सीमा तक कसौटी का काम दे सकता है। वह भी किसी सीमा तक ही। अनुचित विनियोग तो सर्वथा ही निन्दनीय है।

विनियोग दो प्रकार के मिलते हैं। (१) रूप-समृद्धता वाले, जहाँ मंत्रों के शब्दों का याग की क्रियाओं से कुछ दूरस्थ सम्बन्ध या सादृश्य है और (२) रूप समृद्धता रहित[3], जिनमें कोई संकेत

---

[3] ऐतरेय ब्राह्मण में स्थान-स्थान पर मन्त्रों की रूप-समृद्धता का उल्लेख आता है—

"एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियमाणमृगभिवदति" (१।१।४)

अथात् यदि ऐसा मंत्र बोला जाय जिसमें उसी क्रिया का वर्णन

तक नहीं। सम्बन्ध कल्पित है। यदि कोई पुरुष किसी अच्छे

हो जो यज्ञ में की जाने वाली हो तो इसको रूप-समृद्धता कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब यज्ञ रचे गये और उनमें पढ़ने के लिये मन्त्र छाँटे गये तो वह मन्त्र छाँटे गये जिनके शब्दों से उस क्रिया का लगभग वर्णन प्रकट होता हो। विनियोग में जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उन सब में रूप-समृद्धता नहीं होती। परन्तु रूप-समृद्धता अच्छी समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक लोगों ने यज्ञ में मन्त्रों का विनियोग किया। अर्थात् उन्होंने यह निश्चय किया कि अमुक अमुक मन्त्र अमुक अमुक स्थान पर बोले जायँगे। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हीं मन्त्रों का वर्णन आता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि विनियोग के अनुसार मन्त्र बनाये गये, या मन्त्र पहले बने हुये थे, उनको पीछे से यज्ञ में विनियुक्त कर लिया गया। ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों को देखने से कभी-कभी यह धारणा हो जाती है कि मन्त्रों के निर्माण का प्रयोजन केवल उनका यज्ञ-सम्बन्धी विनियोग ही था, अर्थात् उन क्रियाओं से बाहर मन्त्रों का कोई प्रयोजन है ही नहीं। मध्यकालीन वेदभाष्यकारों ने वेदों का भाष्य इसी धारणा से किया है। वहाँ विनियोग मुख्य है और अर्थ गौण। परन्तु ऐसा कथन युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। हमारे पक्ष में ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत से प्रमाण मिलेंगे। यहाँ केवल एक को ही उद्धृत किया जाता है :—

तदाहुरुदुत्यं जातवेदसमिति सौर्याणि प्रतिपद्येतेति।
तत्तन्नाऽऽदृत्य यथैव गत्वा काष्ठामपराध्नुयात् तादृक् तत्॥

(ऐतरेय ब्रा० ४-२-६)

'कुछ लोगों का मत है कि इस स्थल पर 'उदुत्यं जातवेदसं' (ऋ० १-५०-१) सूर्य का मन्त्र पढ़ कर आरम्भ करे। परन्तु यह ठीक नहीं है। मानो दौड़ने में उद्दिष्ट सीमा को ही भूल जाय।'

मन्त्र को चोरी या शराब-पीने के समय पढ़ने लगे तो यह सर्वथा

इससे सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न लोग एक ही अवसर पर भिन्न-भिन्न मन्त्रों को पढ़ना पसन्द करते थे। यहाँ एक पक्ष का तिरस्कार और दूसरे का आदर किया गया है। अर्थात् कुछ लोग 'उदुत्यं' आदि मन्त्र पढ़ते हैं। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि वेद मन्त्र पहले उपस्थित थे। यज्ञ के आचार्यों ने यज्ञ-कर्म में अवसरोचित मन्त्रों का विनियोग किया। किसी को कोई पसन्द आया और किसी को कोई। सब ने अपने पक्ष का मंडन और दूसरे के पक्ष का खण्डन किया। यदि मन्त्रों का निर्माण उन नियत अवसरों के लिये ही होता तो इस विषय में भिन्न-भिन्न मत न होते। वेद और ब्राह्मण के परस्पर सम्बन्ध को जानने और वेद मन्त्रों का अर्थ समझने के लिये यह बात बड़े महत्व की है। यदि यज्ञ की क्रियाओं के विनियोग के लिये ही वेद मन्त्रों का निर्माण हुआ हो तो वेद मन्त्रों का अर्थ उन यज्ञ की क्रियाओं को दृष्टि में रखकर ही करना पड़ेगा। [यदि यह मान लिया जाय कि जिन यज्ञों का ब्राह्मण-ग्रंथों, गृह्य अथवा कल्प सूत्रों में विधान है उन्हीं के लिये वेद मन्त्र बनाये गये तो वेद मन्त्रों का उन-उन क्रियाओं के पूर्णरीति से अनुरूप होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। किसी-किसी वेद मन्त्र का आशय लगभग क्रिया के अनुकूल पड़ता है। उसे रूप-समृद्धता कहते हैं। परन्तु रूप-समृद्धता का केवल इतना ही अर्थ है कि याज्ञिक ने अपनी अभीष्ट क्रिया से मिलता-जुलता एक पहले से उपस्थित मन्त्र छांट लिया। जैसे बहुत से कुशल सभाचतुर अवसरोचित पद्य पढ़ देते हैं। जैसे मैंने किसी वाचाल को डींगे मारते देखा तो मेरे मुँह से निकला 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'। यह पद गोस्वामी तुलसीदास जी ने मुझ से सैकड़ों वर्ष पहले बनाया था। परन्तु मैंने अवसर पाकर उसका प्रयोग कर दिया। यह है इस पद की 'रूप-समृद्धता'। परन्तु कहीं-

रूप-समृद्धता-रहित विनियोग होगा। और विनियोग के आधार

कहीं "रूप-समृद्धता" बहुत थोड़ी है और कहीं-कहीं बिल्कुल नहीं। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण (पंचिका १, अध्याय १, कण्डिका ४) में 'ईजान' और 'अनीजान' दो प्रकार के यजमानों का उल्लेख है। 'ईजान' वह है जिन्होंने पहले कभी यज्ञ किया है और 'अनीजान' वह हैं जिन्होंने कभी यज्ञ नहीं किया। 'होता' उनके लिये अनुवाक्य बोलता है। 'अनीजानों' के लिये आज्य भाग अर्थात् घी के पहले भाग के लिये 'त्वमग्ने सप्रथा असि' (ऋग्वेद ५-१३-४) और दूसरे भाग के लिये 'सोम यास्ते मयोभुवः (ऋ० १-९१-९)। परन्तु जो 'ईजान' हैं उनके मन्त्र यह हैं—'अग्निं प्रत्नेन मन्मना' (ऋ० ८-४४-१२), 'सोमगीर्भिस्त्वावयम्' (ऋ० १-९१-११)। यह मन्त्रों का भेद क्यों? केवल दो वाक्य कुछ-कुछ मिलते थे। ऋग्वेद ५-१३-४ में 'त्वया यज्ञं वितन्वते' ऐसा वाक्य आया है। (अर्थात् 'तू यज्ञ को तानता है)। इस 'वितन्वते' से समझ लिया गया कि यह यजमान 'अनीजान' है। इसने पहले-पहल ही यज्ञ किया है। ऋ० १-९१-११ में इतनी छोटी सी बात भी नहीं मिलती। ऋ० ८-४४-१२ में 'प्रत्नेन' शब्द आ गया। 'प्रत्नेन' का अर्थ है 'पुराना'। केवल एक ही शब्द को देखकर मन्त्र चुन लिया गया।

फिर मन्त्रों को एक स्थान से नहीं चुना गया। कोई किसी अध्याय का है, कोई किसी अध्याय का। १७ सामिधेनी मन्त्रों को तो तीन भिन्न-भिन्न मंडलों से लिया गया है :—६-१६-१०, ११, १२; ३-२७-१४, १५, १६; १-१२-१; ५-२८-५, ६।

कहीं-कहीं ऐसे मन्त्र भी मिलते हैं जो आजकल के ऋग्वेद के संस्करणों में नहीं मिलते। जैसे अग्नि और विष्णु के हविष् का याज्य है :—

पर अर्थ करने में अनर्थ या घोर अनर्थ हो सकता है। सायण-

अग्निर्मुखं प्रथमो देवतानां सगतानामुत्तमो विष्णुरासीत्।
यजमानस्य परि गृह्य देवान् दीक्षयेदं हविरायच्छतं नः॥

और अनुवाक्य है :—

अग्निश्च विष्णो तप उत्तमं महो दीक्षापालाय वनतं हि शक्रा।
विश्वैर्देवैर्यज्ञियैः संविदानौ दीक्षामस्मै यजमानाय धत्तम्॥

यह दोनों मन्त्र आश्वलायन (पूर्व० ४-२) ने दिये हैं। इनमें रूप-समृद्धता अवश्य है और भाषा को देखने से पता भी चलता है संभवतः उसी अवसर के लिये बनाये गये हों, परन्तु इनकी भाषा वेदों की भाषा से भिन्न है।

'प्रायणीय इष्टि' के कुछ मन्त्र केवल इसलिये छांटे गये कि उनमें 'प्र', 'नी', 'पथि', 'स्वस्ति' शब्द आये हैं। (देखो ऋग्वेद १०-६३-१५, १६; १-१८६-१; १०-२-३; १-६१-१; १-६१-४) इत्यादि (देखो ऐतरेय ब्रा० ५-२-६)]

और यदि वेद मन्त्र स्वतन्त्र थे और यज्ञ की क्रियाओं में उनका विनियोग यज्ञ के आचार्यों ने पीछे से किया तो वेद मन्त्रों का स्वतन्त्र रूप से अर्थ करना होगा और वेदमन्त्रों का यज्ञ के साथ गौण सम्बन्ध समझा जायगा। एक मोटा उदाहरण लीजिए। एक श्रुति है :—

तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेसि आयुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।

(पारस्कर गृह्यसूत्र, २-४)

इसमें ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरे शरीर की रक्षा कर, आयु और वर्चस प्रदान कर। और शरीर में जो कमी हो उसको पूर्ण कर।

यदि मैं रोगी हूँ या चोट लग गई हो तो इस श्रुति से प्रार्थना करना बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें रूप-समृद्धता है। ईश्वर-भक्त सैनिक युद्ध में घाव पाते समय इसको पढ़कर अपने को ढाढस

भाष्य में इस प्रकार के स्थलों की भरमार है। स्वामी दयानन्द

दे सकते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस श्रुति का निर्माण इस अवसर के लिये किया गया हो। एक और प्रमाण लीजिये :—

अन्धस्वत्यः पीतवत्यो मद्वत्यस्त्रिष्टुभो याज्या भवन्त्यभिरूपा यद्यज्ञेऽभिरूपं तत् समृद्धम्। (ऐतरेय० ४-१-६)

यहाँ प्रश्न था कि पर्य्यायों के याज्यों में कौन-कौन मन्त्र पढ़ने चाहिये। उत्तर दिया कि वह मन्त्र जिनमें अंधस्, पीत और मद शब्द आये हों। ये पाँच मन्त्र इस प्रकार हैं, ऋग्वेद २-१४-१, ६-४४-१४, १०-१०४-२, ६-४०-१ और २-१९-१।

यह मन्त्र न तो यज्ञ की क्रियाओं के क्रम से हैं; न वेद में एक स्थल या एक प्रसङ्ग के हैं। यह केवल इसलिये छाँटे गये कि इनमें 'अंधस्' 'पीत' और 'मद' शब्द आ गये। इसलिये इन मन्त्रों का अर्थ समझने के लिये ऐतरेय के इस विनियोग की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के भाष्य नहीं हैं। परन्तु उनके विनियोग से कहीं-कहीं वेद मन्त्रों के अर्थों पर प्रकाश पड़ता है।

पाँचवीं पंचिका के प्रायः सभी अध्यायों में भिन्न-भिन्न दिनों में पढ़े जाने वाले मन्त्रों का उल्लेख है। उन मन्त्रों को किस प्रकार छाँटा गया है? किसी विशेष अर्थ के विचार से नहीं, अपितु कुछ शब्दों के विचार से। जैसे जिनमें 'रथ' शब्द आया हो या जिनमें 'आ' या 'प्र' आया हो इत्यादि।

यत् प्रथमस्याह्नो रूपमेतानि वै सप्तमस्याह्नो रूपाणि इत्यादि।

(ऐतरेय ५-३-१)

इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि वेद के मन्त्र उन कृत्यों के लिये नहीं रचे गये थे जिनका ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। केवल

ने इन विनियोगों की सर्वथा उपेक्षा की है और स्वतन्त्र रूप से

उनका विनियोग हुआ है।

कहीं-कहीं तो स्पष्टरीत्या प्रकट हो जाता है कि विनियोग में मन्त्रों का अर्थ संकुचित या विकृत भी हो गया है। यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा :—

ऐतरेय ब्राह्मण के छठे अध्याय (पंचिका २, अध्याय १) के दसवें खण्ड में ऐसा दिया गया है :—

मनोतायै हविषोऽवदीयमानस्यानुब्रूहीत्याहाध्वर्युः। इति त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोतेति सूक्तमन्वाह इति।

इस पर सायणाचार्य लिखते हैं :—

तदर्थं हृदयाद्येकादशाङ्गरूपं हविरवदीयते। तस्य हविषोऽनुकूला ऋचोऽनु ब्रूहीत्यध्वर्युः प्रैषमन्त्रं पठेत्।

अर्थात् अध्वर्यु कहता है कि मनोता के लिये आहुति देने के लिये जो हृदयादि ११ अंग काटे जाते हैं, उनके प्रसंग के मन्त्र पढ़ो। इस पर ऋग्वेद मंडल ६, सूक्त १ के 'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता' आदि मन्त्र पढ़े जाते हैं। (देखो ऐतरेय का हिन्दी अनुवाद पंचिका २, अध्याय १, पृष्ठ १०५-१०६)

हमने अनुवाद में पूरे मन्त्र देकर उनका अर्थ दे दिया है। पाठकगण देख लें। उन मन्त्रों में कहीं भी अंगों के काटने का संकेत तक नहीं है। अर्थ उत्तम और शुद्ध हैं। कोई घातक क्रिया करने का आदेश नहीं है। फिर भी पशु-बलि के साथ उनका विनियोग करके उनके अर्थों को विकृत कर दिया गया। जो कोई यज्ञ में बध-क्रिया और मन्त्र पाठ को देखेगा यही समझेगा कि मन्त्रों में पशुबध का आदेश होगा तभी तो पढ़े जाते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है।

कहीं-कहीं रूप-समृद्धता स्पष्ट न होते हुये भी कुछ कल्पना करके रूप-समृद्धता बना ली गई। देखो ऐतरेय ब्राह्मण पंचिका १, अध्याय ५,

मन्त्र के शब्दों के अर्थ करने का ही प्रयास किया है। हम यहाँ केवल १० उदाहरण देंगे :—

(१)

ऋग्वेद मण्डल, १, सूक्त ६२, मन्त्र ३,

इन्द्रस्याङ्गिरसां चेष्टौ विदत् सरमा तनयाय धासिम्। बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः समुस्त्रियाभिर्वावशन्त नरः॥

सायणाचार्य ने इसका विनियोग दिया है :—

'*त एते प्रातः सवने षडहस्तोत्रियाञ् शस्त्वा माध्यंदिनेऽहीन सूक्तानि शंसन्ति*' (देखो ६१ वें सूक्त का आरम्भ)। और '*गतः सामान्य विनियोगः। विशेष विनियोगस्तु लिङ्गादवगन्तव्यः*' (६२वें सूक्त का आरम्भ)।

अर्थात् प्रातः सवन में यह अहीन-सूक्त पढ़े जाने चाहिये।

यह तो रहा विनियोग, परन्तु अर्थ करने में केवल विनियोग का ही आश्रय नहीं लिया गया। भिन्न-भिन्न कालों में कुछ कथायें

कण्डिका २६। इसमें हविर्धान के सम्बन्ध में ऋग्वेद २-४१-१६, २०,२१ का पाठ बताया है। और प्रश्न किया है कि इन मन्त्रों में द्यावापृथिवी का उल्लेख है, हविर्धान नहीं। फिर इनको हविर्धान में क्यों विनियुक्त किया गया? इसका उत्तर यह दिया गया कि 'द्यौ और पृथिवी देवों के दो हविर्धान हैं। जो कुछ हवि यहाँ दिया जाता है वह सब द्यौ और पृथिवी के बीच में ही होता है, इसलिये द्यावा-पृथिवी बोधक ऋचायें पढ़ी गईं। इससे स्पष्ट है कि वेद मन्त्र यज्ञ सम्बन्धी विनियोग से पहले स्वतंत्र रूप से विद्यमान थे और पीछे से विद्वानों ने उनको यथेष्ट स्थानों में विनियुक्त कर लिया।

भी प्रचलित हो गईं जिनका सम्बन्ध वेद मन्त्रों से जोड़ दिया गया। इस मंत्र की विचित्र कथा सुनिये :—

'अत्रेदमाख्यानम्। सरमा नाम देवशुनी। पणिभिर्गोष्वपहृतासु तद्गवेषणाय तां सरमामिन्द्रः प्राहैषीत्। यथा लोके व्याधो वनान्तर्गता मृगान्वेषणाय श्वानं विसृजति तद्वत्। सा च सरमा एवमवोचत्। हे इन्द्र अस्मदीयाय शिशवे तद् गोसम्बन्धि क्षीराद्यन्नं यदि प्रयच्छसि तर्हि गमिष्यामीति। स तथेत्यब्रवीत्। तथा च शाट्यायनकम्—अन्नादिनीं ते सरमे प्रजां करोमि या नो गा अन्वविन्दः।'

अर्थ :—इस विषय में एक कथा है। सरमा नाम की देवों की एक कुतिया थी। जब पणि लोग इन्द्र की गौयें चुरा ले गये तो इन्द्र ने सरमा कुतिया को उन गौओं के खोजने के लिये भेजा। जैसे व्याध वन के भीतर भागे हुये हिरण को खोज के लिये कुत्ते को छोड़ देते हैं उसी प्रकार। वह सरमा कुतिया बोली "मैं तब जाऊँगी जब तुम इन गायों से उत्पन्न दूधादि को मेरे बच्चों के लिये दोगे।' इन्द्र ने कहा—'ऐसा ही होगा।' इसी पर शाट्यायन का कथन है कि इन्द्र ने कहा कि हे सरमा कुतिया, तू ने मेरी गायें खोज निकालीं, इसलिये मैं तेरी सन्तान को दुग्ध रूप अन्न खिलाता हूँ।'

अब प्रश्न यह है कि क्या यह वेद मन्त्र इस घटना के पीछे बनाया गया या पहले विद्यमान था। यदि वेद नित्य हैं और ईश्वरोक्त हैं और उनका आविर्भाव अग्नि आदि ऋषियों द्वारा हुआ तो अर्थ भी देश-काल से अतीत सार्वभौमिक और सार्व-

कालिक होना चाहिये और अर्थ करते समय सरमा कुतिया की कहानी को जो पीछे से गढ़ी गई है, सर्वथा भुला देना चाहिये। और यदि उस घटना के पश्चात् वेद मन्त्र बना तो यह वह वेद नहीं जिसका सायणाचार्य ने उपोद्घात में वर्णन किया है और जैमिनि के सूत्रों द्वारा पुष्टि की है।

यह ठीक है कि मंत्र में 'सरमा' शब्द पड़ा है। लौकिक संस्कृत में 'सारमेय' कुत्ते को कहते हैं क्योंकि वह सरमा कुतिया की संतान है। परन्तु क्या वेद मंत्र में भी सरमा शब्द का यही अर्थ है? और वृहस्पति ने अपनी कुतिया का नाम 'सरमा' क्यों रक्खा?

सायण ने 'सरमा' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है :—

'सरमा सरणात्' (निरुक्त ११ । २४) *इति यास्कः सर्त्तेरौणादिकः अमप्रत्ययः ।*

अर्थात् 'सृ' (सरकना, चलना) धातु से उणादि 'अम' प्रत्यय करने से 'सरमा' शब्द बनता है। यास्क ने निरुक्त में 'सरमा' को सरण या चलने वाला बताया है।

यही 'सरमा' शब्द ऋग्वेद मंडल ५, सूक्त ४५ के सातवें और आठवें मंत्र में भी आया है (ऋग्वेद ३ । ३१ । ६ में भी)। वहाँ सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया है :—

'सरमा सरणशीला स्तुति रूपावाग् , अङ्गिरसां गवार्थं इन्द्रेण प्रहिता देवशुनी वा' 'वाग् देवशुनीवा' ।

अर्थात् 'सरमा' का अर्थ वाणी भी है और देवों की कुतिया

भी। यदि सायणाचार्य के मस्तिष्क में कुतिया की कथा का अङ्कुर न होता तो वह 'सरमा' का अर्थ वाणी ही करते। जैसे 'सरमा' 'सृ' धातु से निकलता है उसी प्रकार सरस्वती भी।[४] वृहस्पति या वाचस्पति के साथ वाग् या सरस्वती की तो सङ्गति लगती है, परन्तु कुतिया की नहीं। यह है विनियोग या आख्यानों का आश्रय लेने का फल।

अब स्वामी दयानन्द का अर्थ लीजिये जो विनियोग या आख्यानों की उपेक्षा करके किया गया है।

(इन्द्रस्य) *परमैश्वर्यवतः सभाध्यक्षस्य* (अङ्गिरसां) *विद्याधर्मराज्यप्राप्तिमतां विदुषां। अंगिरस इति पदनाम०* (निघण्टु ५।५) (च) *समुच्चये,* (इष्टौ) *इष्टसाधिकायां नीतौ* (विदत्) *प्राप्नुयात् अत्र लिङर्थे लङडभावश्च।* (सरमा)[५] *यथा सरान् विद्याधर्म बोधान् मिमीते*

---

[४] सायण ने ऋग्वेद १-३-१० का भाष्य करते हुये सरस्वती शब्द के विषय में लिखा है :—

'सरमा सरस्वती इति पठितम्'। अर्थात् सरस्वती को सरमा भी कहते हैं।

[५] ऋ० ७-५५-२ में 'सारमेयः' शब्द आया है। सायण ने इसका अर्थ किया है 'सरमा नाम देवशुनी। तस्याः कुलोद्भवः'।

अर्थात् देवों की कुतिया सरमा उसके कुल में जो उत्पन्न हुआ वह सारमेय है।

स्वामी दयानन्द का अर्थ 'साराणां निर्मातः।' जो पदार्थों का निर्माण करे। (शिल्पी ?)

उव्वट ने यजुर्वेद अध्याय ३३, मंत्र ५६ की व्याख्या में 'सरमा'

तथा। आतोऽनुपसर्गे क इति कः प्रत्ययः। (तनयाय) *सन्तानाय,* (धासिम्) *अन्नादिकं। धासिमिति अन्ननाम।* (निघण्टु २।७) (बृहस्पतिः) *बृहतां पतिः पालयिता सभाध्यक्षः* (भिनत्) *भिनत्ति। अत्र लडर्थे लङ्डभावश्च* (अद्रिम्) *मेघम्* (विदत्) *प्राप्नोति। अस्यापि सिद्धिः पूर्ववत्।* (गाः) *पृथिवीः* (सम्) *सम्यगर्थे* (उस्रियाभिः) *किरणैः* (वावशन्तः) *पुनः पुनः प्रकाशयन्त* (नरः) *ये नृणन्ति नयन्ति ते मनुष्यास्तत्सम्बुद्धौ।*

अन्वयः—*हे नरो मनुष्या यथा सरमा माता तनयाय धासिं विदत् प्राप्नोति यथा बृहस्पतिः सभाध्यक्षो यथा सूर्य उस्रियाभिः किरणैः आद्रिं भिनद् विदृणाति यथा गाः विदत् प्राप्नोति तथैव यूयमपि इन्द्रस्य अंगिरसां च इष्टौ विद्यादि सद्गुणान् संवावशन्त पुनः पुनः सम्यक् प्रकाशयन्त यतः सर्वस्मिन् जगति अविद्यादि दुष्ट-गुणाः नश्येयुः।*

स्वामी दयानन्द भावार्थ इन शब्दों में देते हैं :—

मनुष्यों को उचित है कि माता के समान प्रज्ञा में वर्ते, सूर्य के समान विद्यादि उत्तम गुणों का प्रकाश कर ईश्वर की कही वा विद्वानों से अनुष्ठान की हुई नीति में स्थित हो और सब के उपकार को करते हुये विद्यादि सद्गुणों के आनन्द में सदा रहें।

का अर्थ किया है 'सरमा वाक् त्रयीलक्षणा। साहि अभिषवे समानं रमते'।

महीधर ने इसका अर्थ 'वाक्' करते हुये यास्क का प्रमाण दिया है 'सरमा सरणिः'।

पाठकगण इन दो व्याख्याओं की तुलना करके सोचें कि सायण और दयानन्द दोनों का जो वेद के ईश्वरोक्त होने में समान मत है उससे किसकी व्याख्या सुसंगत है। और एक बुद्धिमान् मनुष्य सरमा कुतिया की कहानी पर कैसे विश्वास कर सकता है ?

(२)

ऋग्वेद मंडल, १, सूक्त ११४, मंत्र ६

इदं पित्रे मरुता मुच्यते वचः स्वादोःस्वादीयो रुद्राय वर्धनम् ।
रास्वा च नो अमृत मृतभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृल ।

सायणाचार्य ने इस मंत्र का यह विनियोग दिया है :—

रुद्रदेवत्ये पशौ वपापुरोडाशयोः 'मृला नोरुद्र' इत्यादिके द्वे अनुवाक्ये। तथा च सूत्रितं—'मृला नो रुद्रोत नो मयस्कृधि इति द्वे आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु'[६] ।

अर्थात् रुद्र देवता वाले पशु याग में वपा और पुरोडाश के सम्बन्ध में इन दो अनुवाक्यों का सम्बन्ध है। इसमें आश्वलायन श्रौत्र सूत्र का प्रमाण दिया है।

इसी के साथ एक आख्यायिका भी है :—

पुरा कदाचिदिन्द्रः असुराञ्जिगाय। तदानीं दिति असुरमाता इन्द्रहनन समर्थं पुत्रं कामयमाना तपसा भर्तुः सकाशाद् गर्भं लेभे। इमं वृत्तान्तमवगच्छन्निन्द्रो वज्रहस्तः सन् सूक्ष्मरूपो भूत्वा तस्या उदरं प्रविश्य तं गर्भं सप्तधा बिभेद। पुनरप्येकैकं सप्तखण्डमकरोत्।

---

[६] आश्वलायन श्रौत सूत्र, ३८

ते सर्वे गर्भैकदेशा योनेर्निर्गत्य अरुदन्। एतस्मिन्नवसरे लीलार्थं गच्छन्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ इमान् ददृशतुः। महेशं प्रति पार्वती एवमवोचत्। इमे मांस खण्डा यथा प्रत्येकं पुत्रा संपद्यन्तामेवं त्वया कार्य्यमयि चेत्प्रीतिरस्तीति। सच महेश्वरः तान् समान रूपान् समान वयसः समानालंकारान् पुत्रान् कृत्वा गौर्यै प्रददौ, तवैमे पुत्राः सन्तु इति। अतः सर्वेषु मारुतेषु सूक्तेषु मरुतः रुद्रपुत्राः इति स्तूयन्ते। रौद्रेषु च मरुतां पिता रुद्र इति।

आख्या का अर्थ :—एक बार इन्द्र ने असुरों को जीत लिया। असुरों की माता दिति ने चाहा कि मेरे ऐसा पुत्र हो जो इन्द्र को मार सके। उसने तप किया और अपने पति से गर्भ धारण किया। इन्द्र को मालूम हो गया। वह हाथ में वज्र लेकर सूक्ष्म रूप से दिति के गर्भाशय में घुस गया और उस गर्भ के पहले सात टुकड़े और फिर हर एक के सात सात टुकड़े कर दिये, वे टुकड़े गर्भाशय से निकल कर रोने लगे, उस समय पार्वती और शिवजी सैर को जा रहे थे। पार्वती ने देखा और कहा, तुम मुझसे प्रेम करते हो तो इनमें से हर एक को जिला दो। शिवजी ने उन उनचासों को एक रूप, एक आयु, एक अलंकार युक्त पुत्र बनाकर पार्वती को सुपिर्द कर दिया। तब से मरुत (४९ मरुत) रुद्र के पुत्र कहलाते हैं और रुद्र मरुत के पिता कहलाते हैं।

अब सायणकृत अर्थ देखिये :—

(इदं) *स्तुति लक्षणं वचः* (मरुताम्) *एकोनपंचाशत्—संख्या-*

कानां देवविशेषाणां (पित्रे) जनकाय (रुद्राय) ईश्वराय (उच्यते) उच्चार्यते। कीदृशम्। (स्वादोः स्वादीयः) रसवतो मधुघृतादेरपि स्वादुतरम्। अतिशयेनहर्षतरमित्यर्थः (वर्धनं) स्तुत्यस्य प्रवर्धकम्। स्तोत्रैर्हि देवता प्रहृष्टा सती प्रवर्धते।

(अमृत) मरण रहित रुद्र, (मर्तभोजनम्) मर्तानां मनुष्याणां भोग पर्याप्तमन्नं (नः) अस्मभ्यं (रास्व) पपच्छ! तथा (त्मने) आत्मने। द्वितीर्थे चतुर्थी माम्। (तोकाय) तोकं पुत्रं, (तनयाय) तनयं तत्पुत्रं च (मृल) सुखय।

अर्थ :—यह मीठी स्तुति ४९ मरुतों के पिता रुद्र के प्रति की गई है। हे अमर रुद्र हमको अन्न दीजिये और मुझे, मेरे पुत्र पौत्रों को सुखी बनाइये।

अब स्वामी दयानन्दकृत भाष्य देखिये :—

(इदम्) (पित्रे) पालकाय (मरुताम्) ऋतावृतौ यजतां विदुषां (उच्यते) उपदिश्यते। (वचः) वचनम् (स्वादोः) स्वादिष्टात् (स्वादीयः) अतिशयेन स्वादु प्रियकरम् (रुद्राय) सभाध्यक्षाय (वर्धनम्) वृद्धिकरम् (रास्वा) देहि। अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः (च) अनुक्त समुच्चये (नः) अस्मभ्यं अस्माकं वा (अमृत) नास्ति मृतं मरणादुःखं येन तत्सम्बुद्धौ। (मर्तभोजनम्) मर्त्तानां मनुष्याणां भोग्यं वस्तु (त्मने) आत्मने (तोकाय) ह्रस्वाय बालकाय (तनयाय) यूने पुत्राय (मृड) सुखय।

मंत्र में न ४९ मरुतों की उत्पत्ति का उल्लेख है, न पार्वती

और शिव की सैर का। मरणधर्मा मनुष्य ईश्वर से पुत्र पौत्रादि के लिये भोजन की प्रार्थना करें, या रक्षक या पालक से समृद्धि के लिये याचना करें; इस का तो कुछ अर्थ हो सकता है। परन्तु इन्द्र की जिस करतूत का सायण के आख्यान में वर्णन है उससे न इन्द्र का गौरव बढ़ता है न वेद का।

(३)

ऋग्वेद, मंडल २, सूक्त १२, मन्त्र १४, १५

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्मवर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः।

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयन्त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम।

ऋग्वेद के दूसरे मंडल के १२ वें सूक्त में १५ मंत्र हैं। इनमें से अन्तिम १५ वें मंत्र को छोड़कर शेष १४ के हर मंत्र के पीछे की टेक यह है *स जनास इन्द्रः।* इसका अर्थ हुआ, 'हे जनासः, स इन्द्रः'। हे लोगों, वह इन्द्र है। इस छोटे से वाक्य की व्याख्या के लिये सायणाचार्य ने तीन कहानियाँ दी हैः—

(१) अत्रेतिहासो बृहद्देवतायामुक्तः—

'संयुज्य तपसात्मानमैन्द्रं बिभ्रन्महद् वपुः।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततुः॥

विदित्वा स तयोर्भावमृषिः पापं चिकीर्षतोः।
*यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥**

इस सूक्त का इतिहास बृहद्देवता में इस प्रकार दिया है :— कि इन्द्र ने तप करके अपने विशाल शरीर को द्यौ, अन्तरिक्ष और इस लोक में प्रदर्शित किया। 'यह इन्द्र है' ऐसा जानकर 'धुनि' और 'चुमुरि' नामक दो भयानक असुर शस्त्र लिये उस को मारने के लिये टूट पड़े। ऋषि गृत्समद ने उनके पाप के विचारों को जान कर इस सूक्त द्वारा इन्द्र की कीर्ति का गान किया है।

(२) *अन्ये तु अन्यथा वर्णयन्ति। पुरा किल इन्द्रादयो वैन्ययज्ञं समाजग्मुः। गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत्। दैत्याश्चेन्द्रजिघांसया तत्र समागमन्। तान् दृष्ट्वा निर्जगाम इन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृतिः। सच गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवाटान् निरगच्छत्। निर्गच्छन्तं तमृषिं दृष्ट्वा 'अयमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुराः परिवव्रुः। नाहमिन्द्रस्तुच्छः किं त्वेवं गुणोपेतः स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच।*

कुछ लोग दूसरी कहानी बताते हैं। पहले कभी वैन्य के यज्ञ में इन्द्र आदि गये। गृत्समद ऋषि भी उस सभा में जा बैठे। इन्द्र को मारने की इच्छा से दैत्य भी वहाँ पहुँच गये। उनको देखकर इन्द्र गृत्समद का रूप धर कर सभा से निकल गया। वैन्य ने जब गृत्समद का सत्कार कर लिया तो गृत्समद वहाँ से चल पड़ा।

---

* बृहद्देवता, ४, ६६-६८

दैत्यों ने समझा कि यही इन्द्र है और उसको घेर लिया। गृत्समद ने इस सूक्त में यह दिखाया है कि हे दैत्यों! मैं तो तुच्छ हूँ, इन्द्र नहीं हूँ, इन्द्र में तो बहुत से गुण हैं।

(३) अपरे त्वेवं कथयन्ति। गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्रं ज्ञात्वाऽसुराः परिवव्रुः। स इन्द्रो गृत्समदरूपेण यज्ञवाटान्निर्गत्य स्वर्गं जगाम। ततोऽसुरा इन्द्रो विलम्बित इत्यन्तः प्रविश्य गृत्समदं दृष्ट्वा पूर्वमेव गृत्समदो गतः अयं त्विन्द्रोऽस्मद् भयात् गृत्समदरूपेणास्ते इति तं जगृहुः। स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन प्रत्युवाच। अयमेवार्थो महाभारते प्रपञ्चितः।

एक और कहानी कही जाती है। गृत्समद के यज्ञ में इन्द्र गया। असुरों को मालूम हो गया, और उन्होंने घेरा डाल लिया। इन्द्र गृत्समद का रूप रखकर यज्ञ सभा से निकल कर स्वर्ग को चला गया। असुरों ने सोचा कि बहुत देर हो गई इन्द्र अभी निकला नहीं। वे भीतर घुस गये और देखा कि गृत्समद बैठा है। उन्होंने कहा कि यही इन्द्र है और हमारे डर से गृत्समद का रूप बनाकर बैठा है। उन्होंने उसे पकड़ लिया। गृत्समद ने यह सूत्र उसी के निराकरण के लिये रचा है। महाभारत में यह कथा आती है।

यह तीन कहानियाँ हैं। ऐसी अन्य कहानियाँ भी गढ़ी जा सकती हैं। आश्चर्य यह है कि सायण ने इनको भाष्य का आधार बनाकर अपनी वेदों के प्रति मान्यताओं का घोर खण्डन कर दिया। इससे इन्द्र का क्या गौरव बढ़ा? और वेदों का

क्या ? यदि सायण स्वतन्त्र रूप से सूक्त का अर्थ करते तो वेदों का गौरव कहीं बढ़ जाता क्योंकि जहाँ तक शब्दों का सम्बन्ध है सायण सचाई से इतने दूर नहीं हैं । सायण के साथ विनियोग का बन्धन भी लगा हुआ है ।

संसवे निष्कैवल्ये निविद्धानीयस्य पुरस्तात् 'यो जात एव' इति सूक्तं शंसेत् ।

अर्थात् निष्कैवल्य संसव में यह सूक्त पढ़ा जावे ।

स्वामी दयानन्द इन दोनों बन्धनों को वेद-मर्यादा का विरोध समझते हैं । उनका अर्थ देखिये :—

हे जनासो विद्वांसो युष्माभिर्यो जगदीश्वरः ऊत्या सुन्वन्तं यः पचन्तं कुर्वन्तं यः शंसन्तं यः शशमानं च अवति यस्य ब्रह्मवर्धनं सोमो यस्येदं राधोऽस्ति स इन्द्रः सततमुपासनीयः ।

हे इन्द्र यो दुर्धर्स्त्वं सुन्वते पचते वाजमादर्दोर्षि स किल त्वं सत्योसि तस्य ते विदथं प्रियासः सुवीरासः सन्तो वयं विश्वह चिदावदेम ।

हे विद्वान् मनुष्यों तुम लोगों को जो जगदीश्वर रक्षादिक्रिया से सब के सुख के लिए उत्तम-उत्तम पदार्थों के रस निकालते हुये को वा जो पक्का करते हुये को वा जो प्रशंसा करते हुये को वा जो अधर्म को उल्लंघन करते हुये को रखता है पालता है, जिसका वेद वृद्धि रूप, जिस जगदीश्वर का चन्द्रमा और औषधियों का समूह जिसका यह धन है वह सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर निरन्तर उपासना करने योग्य है ।

हे परमेश्वर्य के देने वाले ईश्वर जो दुःख से धारण करने योग्य आप उत्तम-उत्तम पदार्थों का रस निकालते वा पदार्थों को परिपक्व करते हुये के लिये सब के वेग को सब ओर से निरन्तर विदीर्ण करते हो वही आप सत्य अर्थात् तीन काल में अबाध्य निरन्तर एकता रखने वाले हैं उन आपके विज्ञान-स्वरूप की प्रीति और कामना करते हुये सुन्दर वीरों वाले होते हुये हम लोग सब दिनों में निश्चय से उपदेश करें।

सायण ने 'इन्द्र' का अर्थ देवता विशेष किया है जो असुरों से डर कर भेस बदल कर भागता फिरता है। स्वामी दयानन्द ने 'ईश्वर' किया है। इस सूक्त के कुछ मंत्रों में 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य्य भी किया गया है। उसका प्रयोजन केवल यही प्रतीत होता है कि वेद मंत्रों के अर्थ आधिभौतिक भी हो सकते हैं और आध्यात्मिक भी। जिनमें 'सूर्य्य' अर्थ किया गया है वहाँ 'परमेश्वर' अर्थ भी ठीक बैठ सकता था। यह दो प्रकार के अर्थ तो सायण को भी सम्मत हैं। परन्तु पौराणिक दन्त कथाओं के प्रभाव में सायण को अन्यथा करना पड़ा।

(४)

ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त २१, मन्त्र ५,

ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे। श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान् देवशो विहि॥

सायणाचार्य ने इस मंत्र का विनियोग (आश्वलायन श्रौत्र सूत्र ३, ४ के आधार पर) '*पशौ स्तोकानुवचने इदं सूक्तं*' दिया

दिया है। अर्थात् पशु को यज्ञ के लिये मारकर उसकी चर्बी की बूंदें अग्नि में टपकाते हैं और अग्नि से प्रार्थना करते हैं कि तुम पशु की इस चर्बी को उन उन देवताओं को पहुँचा दो।

सायण भाष्य देखिये :—

'हे अग्ने (ओजिष्ठम) *अतिशयेनसार युक्तं*, (मेदः) *वपाख्यं हविः* (मध्यतः) *पशोर्मध्यभागात्* (ते) *त्वदर्थम्* (उद्भृतम्) *अध्वर्य्वादयः* (वयं) *वयम् अस्मिन्पशौ* (ते) *तुभ्यं* (प्रददामहे) *उद्धृतं तद्वपाख्यं हविः प्रयच्छामः*। (वसो) *सर्वस्य जगतो वासयितर्हे अग्ने* (त्वचि अधि) *वपायामुपरि ये* (स्तोकः) *घृतमिश्रा विन्दवस्ते* (ते) *त्वदर्थं* (श्चोतन्ति) *स्रवन्ति। यद्वा ते तव त्वचि अधि ज्वालाख्यशरीर स्योपरिश्चोतन्ति* (तान्) *स्तोकान्* (देवशः) *दैवेषु* (प्रतिविहि) *प्रत्येकं विभजस्व*।

सूक्त भर में कोई ऐसा शब्द नहीं जिससे ज्ञात हो सके कि इसमें पशुयाग या पशु को मारकर आहुति देने का उल्लेख है। यदि श्रौत सूक्त न होता तो किसी को ध्यान भी न आता कि इस मंत्र का ऊपर दिया अर्थ किया जा सकता है। '*त्वचि अधि*' यह एक शब्द है जिसका साधारण अर्थ है 'खाल पर'। 'पशु' शब्द तो है नहीं न पशु की खाल पर चर्बी की बूंदें टपकाने का कुछ उपयोग है। सायणाचार्य ने '*त्वचि अधि*' का एक और अर्थ किया है—*ज्वालाख्यशरीरस्योपरि*'। आग के ज्वालारूप शरीर के ऊपर। यदि यही अर्थ लिया जाता तो अच्छा होता क्योंकि यज्ञ में

जलती हुई अग्नि की ज्वाला पर घी की आहुति दी जाती है। 'मेद' का शरीर-शास्त्र सम्बन्धी अर्थ है चर्बी या वपा। परन्तु 'मेद' का अर्थ चिकनाई या स्निग्ध पदार्थ भी हो सकता है, जैसे घी। इसलिये *'घृतमिश्रा विन्दवः'* कहने के स्थान में *'घृत-विन्दवः'* ही कहना पर्याप्त हो सकता था। यह अनर्थ आश्वलायन के श्रौत सूत्र के कारण हुआ।

स्वामी दयानन्द निम्न प्रकार अर्थ करते हैं :—

(ओजिष्ठम्) *अतिशयेन वलिष्ठम्* (ते) *तव* (मध्यतः) (मेदः) *स्नेहः* (उद्भृतं) *उत्कृष्टया धृतम्* (प्र) (ते) *तुभ्यं* (वयं) (ददामहे) (श्चोतयन्ति) (सिञ्चन्ति) (ते) *तव*, (वसो) *वास-हेतो* (स्तोका) *स्तावकाः* (अधि) *उपरिभागे* (त्वचि) (प्रति) (तान्) *देवशः* (देवान्) (विहि) (प्राप्नुहि)।

अन्वय—*हे वसो ते मध्यतो यदोजिष्ठं मेद उद्भृतं तत् ते वयं प्रददामहे। ये स्तोकास्ते अधि त्वचि श्चोतन्ति तान् देवशः प्रति विहि।*

हे (वसो) निवास के कारण (ते) आपके (मध्यतः) मध्य से जो (ओजिष्ठम्) अतिबल युक्त (मेदः) प्रीति (उद्भृतं) उत्तम प्रकार धारण की गई उसको (ते) आपके लिये (वयम्) हम लोग (प्रददामहे) देते हैं जो (स्तोकाः) स्तुतिकारक (ते) आपके (अधि) ऊपर (त्वचि) चर्म में (श्चोतन्ति) सिंचन करते हैं (तान्) उन (देवशः) विद्वानों के (प्रति) समीप (विहि) प्राप्त होइये।

(५)

ऋग्वेद, मंडल ४, सूक्त ३३, मंत्र ४

यत् संवत्समृभवो गामरक्षन् यत् संवत्समृभवो मा अपिशन्।
यत् संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः।

यहाँ आश्वलायन सूत्र ८.८ के आधार पर ऋभुओं की प्रतिष्ठा में यह मंत्र है। मंडल १ के १६१ वें सूक्त के आरम्भ में इसके सम्बन्ध में भी एक आख्यायिका है कि सुधन्वा के तीन पुत्र थे ऋभु, विभु, आवाज। इनको 'ऋभवः' कहते हैं। इन्होंने (*'मनुष्याः सन्तः सुकर्मणा देवत्वं प्राप्य' इत्यादि*) मनुष्य होते हुये अच्छे कर्म करके देवत्व की प्राप्ति की। इस मंत्र में इन्हीं ऋभुओं का एक शुभ कर्म है। उन्होंने एक गाय को मारा, उसके टुकड़े किये। फिर उसको जिलाकर देवत्व प्राप्त किया।

सायण का भाष्य देखिये :—

(संवत्सम्) संवसन्ति भूतान्यस्मिन्निति संवत्सः संवत्सरः। संवत्सरपर्यन्तम्। (ऋभवो) (गां) मृताम् (अरक्षन्) अपालयन्। स्वसामर्थ्यादिति। (यत्) यदेतत्कर्मास्ति। तथा (संवत्सं) संवत्सरम् (ऋभवो) (माः) तस्या एव गोमांसं (अपिंशन्) अवयवानकुर्वन्निति (यत्) किं च (संवत्सं) संवत्सरपर्यन्तम् (अस्याः भास, अभरन्) दीप्तीः अवयवशोभा अकुर्वन्निति (यत् ताभिः शमीभिः) मृताया गोर्नवीकरणविषयैः कर्मभिः (अमृतत्व-माशुः) देवत्वं प्राप्ताः। 'धेनुः कर्त्वा' इति देवत्वप्राप्तिसाधनत्वेन देवैः प्रति श्रुतत्वात्। अत्र संवत्समित्येतत् वत्सेन सहेति व्याख्येयम्।

इसका अर्थ यह हुआ, कि ऋभुओं ने साल भर मरी गाय को पाला या उसकी रक्षा की, उसी के मांस के टुकड़े-टुकड़े किये, साल भर तक उन टुकड़ों में चमक उत्पन्न की। और मरी गाय के जिलाने रूप शुभ कर्मों द्वारा देवत्व प्राप्त किया। 'धेनुः कर्त्वा' या गाय का काटना देवत्व प्राप्ति का साधन है।

'संवत्सम्' शब्द के सायण ने दो अर्थ किये एक संवत्सर या साल भर, दूसरा वत्स अर्थात् बच्चे के साथ।

सायण का यह अर्थ उस सम्प्रदाय से प्रेरित है जो यज्ञों में गाय मारने का पक्षपाती है। वेद मंत्र में ऐसी कोई झलक नहीं है। स्वामी दयानन्द का भाष्य देखिये :—

(यत्) ये (संवत्सम्) *संगतं वत्समिव* (ऋभवः) *मेधाविनः पितरः* (गाम्) (अरक्षन्) *रक्षन्ति* (यत्) ये (संवत्सम्) *एकीभूतं वात्सल्येन पालितं सन्तानम्* (ऋभवः) (माः) *मातॄः* (अपिंशन्) *साऽवयवान् कुर्वन्ति* (यत्) *याः* (संवत्सम्) (अभरन्) *भरन्ति पुष्णन्ति वा* (भासः) *प्रकाशमानायाः* (अस्याः) *विद्यायाः* (ताभिः) *मातृपित्राचार्य सेवया विद्याप्राप्तिभिः* (शमीभिः) *श्रेष्ठैः कर्मभिः* (अमृतत्वम्) *मोक्षभावं उत्तमं आनन्दं वा* (आशुः) *प्राप्नुवन्ति*।

अर्थ :—(यत्) जो (ऋभवः) बुद्धिमान् पितृजन (संवत्सम्) प्राप्त बछड़े के सदृश सन्तानों को शिक्षा देते हैं। (गाम्) वाणी की (अरक्षत्) रक्षा करते हैं। और (यत्) जो (ऋभवः) बुद्धिमान् पितृ आचार्यजन (संवत्सम्) एक हुये और प्रेम से पाले गये सन्तान के सदृश (माः) माताओं को (अपिंशन्) अवयवों के

सहित करते हैं अर्थात् भरण पोषण से उनके अंगों को पुष्ट करते हैं (यत्) जो मातृजन (भासः) प्रकाशमान (अस्याः) इस विद्या के (संवत्सम्) एकीभाव को प्राप्त प्रेम से पालित सन्तान का (अभरन्) धारण या पोषण करते हैं वे बुद्धिमान पितृजन और मातृजन (ताभिः) उन मातृ पितृ आचार्य की सेवा और विद्या की प्राप्तियों और (शमीभिः) श्रेष्ठ कर्मों से (अमृतत्वम्) मोक्षभाव या उत्तम आनन्द को (आशुः) प्राप्त होते हैं।

मंत्र में 'गाम्' शब्द है। सायण ने (*मृताम्*) मरी हुई। अपनी ओर से जोड़ा। अन्यथा विनियोग न बनता। '*अपिंशन्*'[८]

---

[८] पिश् धातु (पिंशति, पिंशते) का अर्थ आप्टे ने इस प्रकार किया है :—

(1) To shape, fashion, form,
(2) To be organised,
(3) To light, irradiate,
(4) To be reduced to one's constituent parts,
(5) Ved, To adorn, decorate,
(6) To make ready, prepare,

सायण के 'काटने' की अपेक्षा तो यह सभी अर्थ उत्तमता से लगाये जा सकते हैं।

मौनियर विलियम्ज ने 'पिंश' का अर्थ to hew out, carve, prepare (esp. meat) भी किया है। लेकिन आगे लिखते हैं to form, fashion, mould R. V. अर्थात् 'पिंश' का अर्थ है काटना विशेषकर मांस काटना। परन्तु ऋग्वेद में 'पिंश' का अर्थ है बनाना या ढालना। मौनियर विलियम्ज ने मांस काटना अर्थ सायण के भाष्य को देख कर ही किया होगा। क्योंकि कोष तो पूर्व साहित्य

का अर्थ किया टुकड़े-टुकड़े करना। स्वामी दयानन्द ने *'सावयवान्'* (अङ्गों वाला) किया। *'माः'* का अर्थात् सायण ने *गोमांस* किया। स्वामी दयानन्द ने *'माताओं'* किया। सन्तान को पाकर माता *'सावयव'* अर्थात् अंगों वाली हो जाती है। क्योंकि कहा भी है कि माता के अङ्ग-अङ्ग से सन्तान उत्पन्न होती है। अतः वह माता को सावयव करती है।

ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १६१ के तीसरे मंत्र की व्याख्या करते हुये सायण ने घोड़े को काटकर घोड़ा बनाने, रथ को काटकर रथ बनाने, गौ[१] को काटकर चर्म रहित गाय से दूध दुहने और उसे फिर जिलाने का उल्लेख किया है जो परियों की कहानियों के सदृश प्रतीत होता है।

(६)

ऋग्वेद, मंडल ५, सूक्त २, मन्त्र १

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहाविभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज् जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥

आश्वलायन श्रौत सूत्र, ४-१३ के आधार पर *'प्रातरनुवाके आग्नेये क्रतौ त्रैष्टुभे छन्दसि आश्विनशस्त्रे चैतदादि चत्वारि सूक्तानि।'*

का अनुसरण करता है। सायण की देखादेखी न जाने कितने संस्कृत साहित्य के लेखकों ने पिश धातु को मांस बनाने के अर्थ में प्रयुक्त किया होगा। यह स्वाभाविक है।

[१] धेनुः कर्त्वा चर्मरहित गौः नित्यदोग्ध्री पुनर्नूतना कार्या। (ऋग्वेद, सायण भाष्य १-१६१-३)

इन मंत्रों का विनियोग आश्विनशस्त्र में किया है। (देखो भाष्य ५-१-१)। मंत्र के अर्थ की शस्त्र के साथ कैसे संगति लगाई इसका विचार नहीं किया गया। हाँ शाट्यायन ब्राह्मण और तांड्य ब्राह्मण के आधार पर दो कुछ-कुछ भिन्न कहानियाँ दी है। और किसी न किसी प्रकार इस मंत्र के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर कहानी में जड़ा गया है।

शाट्यायन ब्राह्मणोक्त इतिहास इहोच्यते :—

राजात्रवृष्ण ऐक्ष्वाकः त्र्यरुणो, भवदस्य च।
पुरोहितो वृशोजान ऋषिरासीत् तदा खलु॥
संगृह्णन्ति रथान् राज्ञां रक्षणाय पुरोहिताः।
त्र्यरुणस्य वृशोरश्मिं संजग्राह पुरोहितः॥
कुमारो वर्त्मनि क्रीडन् रथचक्रेण घातितः।
छिन्नः कुमारश्चक्रेण ममाराथ पुरोहितः॥
त्वं हन्तास्येति राजानं राजा चापि पुरोहितम्।
त्वं हन्तास्य कुमारस्य नाहमित्यब्रवीत् तदा॥
यतस्त्वं रथवेगस्य नियन्तातस्त्वया हतः॥
रथस्वामी यतो राजन् तस्मात् त्वं तस्य घातकः।
एवं विवदमानौ ताविक्ष्वाकून् प्रष्टुमागतौ॥
तौ पप्रच्छतुरिक्ष्वाकून् केनासौ निहतो द्विजः।
तेऽब्रुवन् रथयन्तारं हन्तारं वृशसंज्ञकम्॥
स वृशो वार्शसाम्ना तं कुमारं समजीवयत्।

....

यत इक्ष्वाकवो रागात् हन्तारमृषिमब्रुवन् ।
तस्मात् तेषां गृहेष्वग्नेस्तेजो निर्गतमेषु च ॥
गृहे पाकादयो नासन् तत्कारणमचिन्तयन् ।
वृशं कुमार हन्तारं यदवोचाम तेन नः ॥
अपाकमद्धरो वह्नेराह्वयाम वृशं वयम् ।
इति संचिन्त्य तमृषि माह्वयामासुरादरात् ॥
समागत्य ततः शीघ्रं तेषामग्नेर्हरो भवेत् ।
इति वार्शेन साम्नासावकामयत पूर्ववत् ॥
एवं गायन् स ऋषिर्ब्रह्महत्यां भार्याजातां त्रसदस्योर्नृपस्य ।
पिशाच वेषां हर आदाय चाग्नेर्गृहान्
नीत्वा कशिपौ स्थापयन्तीम् ॥
दृष्ट्वा सम्यक् तद्धरस्तोषयित्वा साम्ना
पश्चाद् योजयामास चाग्निम् ।

इसी प्रकार ताण्डक कहानी सुनिये :—

वृशः पुरोधा अभवत् त्रसदस्योर्महीपतेः ।
सरथं धावयन् राजा ब्राह्मस्य कुमारकम् ॥
चिच्छेद रथचक्रेण प्रमादात्सोऽब्रवीद् वृशम् ।
पुरोहिते वर्तमाने त्वयि मां हन्तिरागता ॥
एषा त्वयापनेतव्या ऋषिमित्यब्रवीन् नृपः ।
स ऋषिर्वार्शसाम्ना तं कुमारमुदजीवयत् ॥

कहानी इस प्रकार है कि एक राजा था त्रसदस्युः । उसका पुरोहित था वृश । वृश राजा के रथ को चला रहा था । रथ के

पहिये से ब्राह्मण का बालक मर गया। राजा ने कहा कि यह पाप पुरोहित को लगेगा क्योंकि इसने रथ चलाया। पुरोहित ने कहा कि स्वामी तो राजा है अतः पाप उसी को लगना चाहिये। वह दोनों इक्ष्वाकुवंश के लोगों के पास निर्णय के लिये आये। लोगों ने पुरोहित को दोषी ठहराया। 'वृश' पुरोहित ने 'वार्शं-साम' के द्वारा लड़के को जिला दिया। लोगों ने निर्णय न्याय विरुद्ध किया था। अतः अग्नि से तेज जाता रहा और इक्ष्वाकु लोगों का खाना भी न पक सका। तब उन्होंने प्रायश्चित्त किया। वृश को मनाया। वृश के वार्शसाम गान का फल यह हुआ कि ब्रह्महत्या ने राजा की भार्या के पेट से पिशाचरूप में उत्पन्न होकर कशिपु में उस तेज को रख दिया। और ब्रह्म हत्या छूट-कर अग्नि से फिर पूर्ववत् काम होने लगा।

ताण्ड्य ब्राह्मण में भी वैसी ही कथा है। इतना भेद है कि वहाँ राजा ने कहा कि हे ऋषि, तुम पुरोहित हो तुम्हीं इस दोष को छुड़ा सकते हो। ऋषि ने वार्शसाम गाकर मरे पुत्र को जिला दिया।

यह कथा वेद मंत्र के केवल दो शब्दों 'माता' और 'कुमार' की व्याख्या में गढ़ी गई।

सायण की मंत्र की व्याख्या यह है :—

(माता) *कुमारस्योत्पादयित्री* (युवतिः) *यौवनोपेता* (कुमारं) *पथि संचरन्तं* (समुब्धं) *चक्रेण हतं* (गुहा) *गुहायां* (बिभर्ति) *धारयति* (न ददाति पित्रे) *तस्य जनकाय*।

इसका अर्थ यह हुआ कि युवती माता मार्ग में खेलते हुये रथ के पहिये से मारे गये पुत्र को गुहा में रखती है पिता को नहीं देती।

इतने से कुछ आशय समझ में नहीं आता। शायद इसीलिये सायण ने साथ ही एक अर्थ और दिया है :—

यद्वा। माता सर्वस्य निर्मात्री पृथिवी समुब्धं सम्यक् निगूढं गुहा (गुहायां) बिभर्ति न ददाति पित्रे। अस्य कुमारस्य (अनीकं) रूपं (मिनत्) हिंसितं (जनासः) जनाः (न पश्यन्ति)। किंतु अरमणे देशे (निहितं) स्थितं (पुरः) पुरो देशे पश्यन्ति।

अथवा अयं वृशेन पुनरुज्जीवितः कुमारः आत्मानंपरोक्षतया वक्ति कथयति। जानः वा तं जीवयित्वा वक्ति। अथवा सूक्तस्य आग्नेयत्वात् कुमार इत्यग्निरुच्यते। तं माता अरणिर्युवतिर्मिश्रयन्ती समुब्धं-निगूढं गुहायां बिभर्ति पित्रे उत्पादकाय यजमानाय न ददाति। अस्याग्नेर्मिनत् हिंसत् दाहकमनीकं तेजो जना न पश्यन्ति। किंतु अरतौ। अरण्यां हितं पश्यन्ति।

यहाँ कई वैकल्पिक अर्थ दिये हैं :—

माता पृथिवी है। वह कुमार को छिपा लेती है पिता को नहीं देती। लोग उसको देख नहीं सकते। अरमण देश में देखते हैं।

या यह वचन कुमार ने स्वयं अपने मन में कहे जब वृश ऋषि ने उसे जिला दिया।

अथवा सूक्त आग्नेय हैं। अतः अग्नि को ही कुमार कहा

गया। अरणी उस अग्नि की माता है। उसको युवती इसलिये कहा कि वह मिलाती है। ('यु' धातु का अर्थ मिलाना है)। अग्नि अरणी में छिपी रहती है। यजमान को प्राप्त नहीं होती। लोग अरणी की आग के जलाने वाले रूप को देख नहीं सकते। परन्तु जब अग्नि अरणी से उत्पन्न होती है तो दिखाई पड़ती है।

समझ में नहीं आता कि जब अन्तिम अर्थ ज्ञात था तो कहानी को व्याख्या का आधार क्यों माना गया। केवल यह दिखलाने के लिये कि एक गाथा प्रचलित है।

स्वामी दयानन्द का गाथा-जाल-विमुक्त अर्थ इस प्रकार है :—

(कुमारम्) (माता) (युवतिः) *पूर्णावस्था सती कृतविवाहा* (समुब्ध) *समत्वेन गूढं* (गुहा) *गुहायां गर्भाशये* (बिभर्ति) (न) (ददाति) (पित्रे) *जनकाय* (अनीकं) *बल सैन्यम्* (अस्य) (न) *निषेधे* (मिनत्) *हिंसत्* (जनासः) *विद्वांसः* (पुरः) (पश्यन्ति) (निहितम्) *स्थितं* (अरतै) *अरमणवेलायाम्*।

हे मनुष्यो जैसे (युवतिः) पूर्ण अवस्था में विवाह करने योग्य अवस्थावाली होकर जिस स्त्री ने विवाह किया ऐसी (माता) माता (समुब्धं) तुल्यता से ढके हुये (कुमारं) कुमार को (गुहा) गर्भाशय मे (बिभर्ति) धारण करती और (पित्रे) उस पुत्र के पिता के लिये (न) नहीं (ददाति) देती है। इस पिता के (अनीकं) समुदाय बल को अर्थात् (न) जो नहीं (मिनत्) नाश करने वाला होता हुआ (अरतौ) रमण समय से अन्य समय में (निहितम्) स्थित उसको

(जनासः) विद्वान् जन (पुरः) पहिले (पश्यन्ति) देखते हैं वैसा ही आप लोग आचरण करो।

भावार्थः—जो कुमार और कुमारी ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के और सन्तान के उत्पन्न करने की रीति को जान के पूर्ण अवस्था अर्थात् विवाह करने के योग्य अवस्था होने पर स्वयंवर नामक विवाह को करके सन्तान की उत्पत्ति करते हैं तो वे सदा आनन्दित होते हैं।

(७)

ऋग्वेद, मंडल ६, सूक्त ४६, मंत्र ३

यः सत्राहा विचर्षणिरिन्द्रं तं हूमहे वयम्।
सहस्रमुष्क तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥

सायणकृत भाष्य :—

(यः) इन्द्रः (सत्राहा) *महतां शत्रूणां हन्ता* (विचर्षणिः) *विशेषेण सर्वस्य द्रष्टा* (तम्) (इन्द्रं) (वयं) (हूमहे) *स्तुतिपदैराह्वयामः। उत्तरार्धः प्रत्यक्षकृतः।* हे (सहस्रमुष्क) *सहस्रशेफ, यां कां च स्त्रियं संभवन्निन्द्रो भोगलोलुपतया स्वशरीरे पर्वणि पर्वणि शेफान् ससर्जेति कौषीतकिभिराम्नातम्। तदभिप्रायेण इदं सम्बोधनम्।* हे (तुविनृम्ण) *बहुधन* (सत्पते) *सतां पालयितरिन्द्र* (समत्सु) *संग्रामेषु* (नः) *अस्माकं* (वृधे) *वर्धनाय* (भव)।

अर्थ—हम उस इन्द्र देवता को पुकारते हैं जो शत्रुओं का नाशक और सब का द्रष्टा है। यह है पहले भाग का अर्थ। दूसरे भाग में इन्द्र को साक्षात् सम्बोधन किया। हे सहस्रशेफ

बहुत धन वाले। सत् पुरुषों के पालने वाले इन्द्र आप संग्रामों में हमारी सम्वृद्धि कीजिये।

यहाँ एक शब्द है '*सहस्रमुष्क*'। मुष्क साधारण लौकिक संस्कृत में पुरुष की प्रजनन इन्द्रिय का नाम है। उसी को शेफ भी कहते हैं। अतः सायण ने '*सहस्रमुष्क*' का अर्थ किया '*सहस्रशेफ*'। अर्थात् जिसके शरीर पर सहस्रों प्रजनन-इन्द्रिय हों। ऐसा भद्दा अर्थ सायण ने क्यों किया? इसलिये कि उनके मस्तिष्क पर एक गाथा का प्रभाव था। वह लिखते हैं कि कौषतकी ब्राह्मण में लिखा है कि इन्द्र जिस किसी स्त्री को देखते उससे भोग करना चाहते। इसलिये उनके शरीर पर हजारों या एक हजार प्रजनन-इन्द्रियाँ हो गई। इसमें सायण के व्याकरण-ज्ञान, निरुक्ति-ज्ञान या पाण्डित्य का दोष नहीं। दोष है उस दृष्टिकोण का जिसके कारण वह भद्दे अश्लील और मिथ्या कथा-जाल में फंस गये।

दयानन्द भाष्यम् :—

(यः) (सत्राहा) *सत्यदिनानि* (विचषणः) *विद्वान् मनुष्यः* (इन्द्रम्) *ऐश्वर्ययुक्तम्* (तम्) (हूमहे) *प्रशंसामः* (वयम्) (सहस्रमुष्क) *असख्य-वीर्य* (तुविनृम्ण) *बहुधन* (सत्पते) *सतां विदुषां पालक* (भवा) *अत्र द्वयचोतस्तिङ् इति दीर्घः* (समत्सु) *संग्रामेषु* (नः) *अस्माकम्* (वृधे) *वर्धनाय*।

'सहस्रमुष्क' का अर्थ स्वामी दयानन्द ने बहुवीर्य या महती शक्ति वाला किया है। मजे की बात यह है कि ऋग्वेद मंडल, ८, सूक्त १९, मंत्र ३७ का भाष्य करते हुये इन्हीं सायणाचार्य

महाराज ने *'सहस्रमुष्क'* का अर्थ किया है *'मुष्णन्ति तमांसि अपहरन्ति मुष्काणि तेजांसि । बहुतेजस्कम् ।* जो अंधरे को हरे उसका नाम है मुष्क, इसलिये *'सहस्रमुष्क'* का अर्थ हुआ बहुत तेज वाला । अब विचारिये ! कि एक शब्द जो इतना सुन्दर है गाथाओं के जाल में कितना बिगड़ सकता है ।[१०]

(८)

ऋग्वेद, मण्डल ४, सूक्त ३३, मन्त्र ४

यत् संवत्समृभवो गामरक्षन् यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन् ।
यत् संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः ॥

सायणभाष्यम् :—

(संवत्सम्) *सवसन्ति भूतान्यस्मिन्निति संवत्सः संवत्सरः । संवत्सरपर्य्यन्तन्तम् ।* (ऋभवो) (गां) *मृताम्* (अरक्षन्) *अपालयन् ।*

---

[१०] जिस प्रकार 'सहस्रमुष्क' विषय में यह अश्लील कथा इन्द्र देव से सम्बन्धित की गई, इसी प्रकार 'सहस्राक्ष' की भी कथा है । कहते हैं कि जब गोतम ने अहिल्या को धोखा देने के अपराध में इन्द्र को शाप दिया तो इन्द्र के समस्त शरीर पर स्त्री की गुप्त-इन्द्रिय के आकार के एक सहस्र चिह्न बन गये और इन्द्र लज्जावश घर के बाहर भी न निकल सके । इस पर तपस्या करने पर उन इन्द्रियों के स्थान में चक्षु बन गये । तब से इन्द्र का नाम 'सहस्राक्ष' पड़ा । कहते हैं कि 'इन्द्रिय' नाम इसीलिये पड़ा कि वह इन्द्र के शरीर पर बन गई थी । सायण ने 'सहस्राक्ष' का अर्थ करने में इस गाथा का आश्रय नहीं लिया, यह अच्छा ही किया । परन्तु ऐसी गाथायें प्रचलित हैं जो कि हिन्दू धर्म के माननीय धर्म-ग्रंथों में हैं और जो वेदार्थ को कलंकित करती हैं ।

स्वसामर्थ्यात् इति। (यत्) *एतत्कर्मास्ति। तथा* (संवत्सं) *संवत्सरम्* (ऋभवो) (माः) **तस्या एव गोमांसं** (अपिंशन्) *अवयवानकुर्वन्निति* (यत्) *किंच* (संवत्सं) *संवत्सरपर्यन्तम्* (अस्याः) (भासः) (अभरन्) *दीप्तीः अवयवशोभा अकुर्वन्निति* (यत् ताभिः शमीभिः) *मृताया गोर्नवीकरणविषयैः कर्मभिः* (अमृतत्वमाशुः) *देवत्वं प्राप्ताः। 'धेनुः कर्त्वा' इति देवत्वप्राप्तिसाधत्वेन देवैः प्रति श्रुतत्वात्। यद्वा। अत्र संवत्समित्येतत् वत्सेन सहेति व्याख्यातम्।*

अर्थ—**ऋभुओं ने साल भर मरी गाय को रक्खा। उसके मांस के टुकड़े-टुकड़े किये। साल भर तक उन टुकड़ों की चमक को बनाये रक्खा। और इन सुकर्मों से ऋभुओं को देवत्व प्राप्त हुआ। गाय को काटना देवत्व प्राप्ति का साधन है। '*संवत्सं*' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है। अर्थात् बछड़े के साथ**[११]।

स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का निम्न अर्थ किया है :—

(यत्) ये (संवत्सम्) *संगतं वत्समिव* (ऋभवः) *मेधाविनः पितरः* (गाम्) (अरक्षन्) *रक्षन्ति* (यत्) ये (संवसत्म्) *एकीभूतं वात्सल्येन पालितं सन्तानं* (ऋभवः) (माः) *मातृः* (अपिंशन्) *साऽवयवान् कुर्वन्ति,* (यत्) *याः* (संवत्सम्) (अभरन्) *धरन्ति*

---

[११] यहाँ एक गाथा है। ऋभु पहले मनुष्य थे। शुभ कर्म द्वारा देवता हो गये। गाय के मांस को काटने की कथा भी विचित्र है जो असंगत है। क्या कोई आज इस गाथा से लाभ उठा सकता है ! यह केवल गोमांस का ही प्रश्न नहीं है। इससे मृत्यु, पुनर्जन्म आदि कई सिद्धान्तों पर जो वैदिक धर्म में मान्य हैं पानी फिर जाता है।

पुष्णन्ति वा (भासः) *प्रकाशमानायाः* (अस्याः) *विद्यायाः* (ताभिः) *मातृपित्राचार्य सेवया विद्याप्राप्तिभिः* (शमीभिः) *श्रेष्ठैः कर्मभिः* (अमृतत्वम्) *मोक्षभावमुत्तममानन्दं वा* (आशुः) *प्राप्नुवन्ति ।*

स्वामी दयानन्द ने 'माः' का अर्थ 'गोमांस' न करके (मातृः) 'माताओं' को किया है। और 'शमीभिः' का अर्थ 'श्रेष्ट कर्म'।

इस प्रकार मंत्र का भावार्थ यह हुआ कि जो बुद्धिमान लोग विद्या का प्रचार करके अपनी सन्तान को सुशिक्षित करते हैं, वे माताओं के श्रम को सफल करते हैं, और समस्त समाज को इससे सुख मिलता है।

यदि सायणाचार्य जी कल्पित गाथा पर विश्वास न कर लेते तो वह भी स्वामी दयानन्द के अर्थों को स्वीकार कर लेते।

(९)

ऋग्वेद, मंडल ३, सूक्त ५३, मंत्र २३-२४

न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशुमन्यमानाः ।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान् नयन्ति ॥
इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चकितुर्न प्रपित्वम् ।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परिणयन्त्याजौ ॥

इस सम्बन्ध में सायण ने निम्न आख्यायिका दी है :—

पुरा खलु तपसः क्षयो मा प्रापदिति शापान्निवृत्तं विश्वामित्रं वशिष्ठ-पुरुषा बद्ध्वा आनीतवन्तः । तान् प्रतिविश्वामित्रो ब्रूते ।

अर्थात् किसी समय विश्वामित्र मौन धारण किये इसलिये बैठे थे कि यदि उनकी वाणी से किसी के प्रति शाप निकल पड़ा

तो उनके तप का क्षय हो जायगा। क्योंकि ऐसी धारणा है कि तपस्वी यदि किसी को शाप देवे तो वह शाप तो ठीक हो जायगा परन्तु उस तपस्वी के तप को भी क्षति पहुँचेगी। विश्वामित्र और वशिष्ठ में पहले से वैमनस्य चला आता था। इसलिये वशिष्ठ के पुत्रों ने इस अवसर को अच्छा समझा और विश्वामित्र को बांध कर घर ले आये। इसपर विश्वामित्र ने यह दो मंत्र कहे जिनका तात्पर्य यह है कि यह लोग मेरे तप की शक्ति को जानते नहीं इसीलिये मुझे चुपचाप देखकर पकड़ लाये। बुद्धिमान लोग मूर्खों की परवाह नहीं करते। गधे को घोड़े से अधिक मान्यता नहीं दी जाती। हे इन्द्र! यह वशिष्ठ के पुत्र ऊँच-नीच नहीं समझते। युद्ध में वीर पुरुष अयोग्यों पर धनुष नहीं उठाते। अर्थात् वशिष्ठ इतना नीच है कि वह मेरी स्पर्धा का पात्र नहीं हो सकता।

ऐसा अर्थ करके सायण ने वेदों को वशिष्ठ-विश्वामित्र कलह की कथा बना डाला। यदि यह अर्थ ठीक है तो या तो यह मंत्र वेद का भाग नहीं, या वेद रामायण से भी पीछे के सिद्ध होते हैं।

स्वामी दयानन्द ने इसका ऐसा अर्थ किया है :—

(न) *निषेधे* (सायकस्य) *शस्त्रसमूहस्य* (चिकिते) *जानातु* (जनासः) *वीराः* (लोधम्) *लोब्धारम्। अत्र वर्णव्यत्ययेन भस्य धः।* (नयन्ति) *प्राप्नुवन्ति* (पशु) *पशुमिव। अत्र सुपां सुलुगिति विभक्तेर्लुक्।* (मन्यमानाः) *विजानन्तः* (न) *निषेधे* (अवाजिनम्) *अविद्यमाना*

वाजिनो यत्र सङ्ग्रामे तम् (वाजिना) अश्वेन (हासयन्ति) (न) (गर्दभम्) लम्बकर्णं (पुरः) (अश्वात्) (नयन्ति)।

अन्वय :—हे राजन् ये ते जनासो लोधं न नयन्ति पशु मन्यमाना वाजिना अवाजिनं न हासयन्ति। अश्वात्पुरो गर्दभं न नयन्ति ता सायकस्य दानेन युक्तान् कर्त्तुं भवान् चिकिते।

भावार्थ :—त एव राज्ञो वीरा वराः स्युर्ये युद्धविद्यां विज्ञाय सेनाङ्गानि यथावद्रक्षितुं योधायितुं जानन्ति।

हे राजन् जो वे (जनासः) वीरपुरुष (लोधम्) प्राप्त होने वाले को (न) नहीं (नयन्ति) प्राप्त होते हैं (पशु) पशु के सदृश (मन्यमानाः) जानते हुए (वाजिना) घोड़े से (अवाजिनम्) घोड़े जिसमें नहीं ऐसे सङ्ग्राम को (न) नहीं (हासयन्ति) हराते हैं और (अश्वात्) घोड़े से (पुरः) प्रथम (गर्दभम्) लम्बे कान वाले गदहे को (न) नहीं (नयन्ति) प्राप्त कराते हैं उनको (सायकस्य) शस्त्रसमूह के दान से युक्त करने को आप (चिकिते) जानिये।

वे ही राजा के वीर श्रेष्ठ होवें कि जो युद्धविद्या को जान के सेनाओं के अंगों की यथावत् रक्षा स्थिर करने और युद्ध कराने को जानते हैं।

(इमे) (इन्द्र) परमैश्वर्ययोजक (भरतस्य) सेनाया धर्त्तू रक्षस्य (पुत्राः) सुशिक्षितास्तनया इव भृत्याः (अपित्वम्) अपचयम् (चिकितुः) विज्ञातुः (न) इव (प्रपित्वम्) प्रकृष्टं प्रापणम् (हिन्वन्ति) वर्धयन्ति (अश्वम्) तुरङ्गम् (अरणम्) प्रेरितम् (न) इव (नित्यम्)

(ज्यावाजम्) ज्यायः शब्दम् (परि) सर्वतः (नयन्ति) (आजौ) सङ्ग्रामे।

अन्वय :—*हे इन्द्र तव सेनाया भरतस्य चिकितुर्न य इमे पुत्रा इवाऽपपित्वं प्रपित्वमश्वमरणं न हिन्वन्त्याजौ ज्यावाजं नित्यं परिणयन्ति ताँश्च त्वं स्वात्मवद्रक्ष।*

भावार्थ :—*अत्रोपमालं०। ये राजादयः स्वहासवृद्धी जानन्ति सैनास्थान् साध्यक्षन् भृत्यान् युद्धकर्मणि कुशलाननुरक्तान् पुत्रवत्पालयन्ति तेषां सदैव वृद्धिर्भवति पराजयः कुतो भवेदिति।*

हे (इद्र) अत्यन्त ऐश्वर्य्य से युक्त करने वाले आप की सेना के (भरतस्य) रक्षा करने और (चिकितुः) जानने वाले के (न) तुल्य (इमे) ये मेरे (पुत्राः) उत्तम प्रकार शिक्षा को प्राप्त सन्तानों के सदृश सेवक लोग (अपपित्वम्) नाश और (प्रपित्वम्) उत्तम प्रकार प्राप्त कराने को (अश्वम्) घोड़े को (अरणम्) प्रेरणा किये हुए के (न) तुल्य (हिन्वन्ति) बढ़ाते हैं और (आजौ) संग्राम में (ज्यावाजम्) धनुष् की तांत के शब्द को (नित्यम्) नित्य (परि) सब प्रकार (नयन्ति) प्राप्त करते हैं उसकी और उनकी आप अपने आत्मा के सदृश रक्षा करो।

इस मन्त्र में उपमालं०। जो राजा आदि अपने नाश और वृद्धि को जानते हैं सेना में वर्त्तमान साध्यक्ष सेवकों को युद्ध कर्म में चतुर और अनुरक्तों का पुत्र के सदृश पालन करते हैं उनकी सदा ही वृद्धि होती है पराजय कहाँ से होवे।

(१०)

ऋग्वेद, मंडल ५, सूक्त ३३, मंत्र १०

उतत्ये मा ध्वन्यस्य जुष्टा लक्ष्मण्यस्य सुरुचो यतानाः।

मह्ना रायः संवरणस्य ऋषेर्व्रजं न गावः प्रयता अपिग्मन्।

सायण भाष्यम् :—

(उत) *अपि च* (त्ये) *ते वक्ष्यमाणाः रायः* (ध्वन्यस्य) *ध्वन्यनामकस्य* (लक्ष्मण्यस्य) *लक्ष्मण पुत्रस्य राज्ञः सम्बन्धिनो अश्वाः* (जुष्टाः) *मां प्राप्ताः* (सुरुचः) *शोभनदीप्तयः* (यतानाः) *वहनाय यतमानाः,* (रायः) (मह्ना) *महत्वेन युक्ता रायः* (प्रयताः) *दत्ता सत्यः संवरणस्य ऋषेः* (अपिग्मन्) *अपिगताः प्राप्ताः। मद्गृहमिति शेषः।* (व्रजं न गावः) *गोष्ठं गाव इव। यद्वा नेतिचार्थे। गावश्च मम व्रजमपिग्मन्। अत्रैन्द्रे सूक्ते 'प्रथिर्णैन्द्रे मरुतः राज्ञां च दानस्तुतयः'* (अनु० २, २२) *इत्युक्तत्वाद् राज्ञां दानस्तुतिरविरुद्धा।*

श्री रामगोविन्द द्विवेदी ने सायण के इसी अर्थ का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है :—

'लक्ष्मण के पुत्र ध्वन्य ने जो दीप्तिमान और कर्मक्षम अश्व प्रदान किया था वह हमें वहन करे। गौएँ जैसे गोचरण-स्थान (गोष्ठ) को प्राप्त करती हैं उसी तरह से उनके (ध्वन्य) द्वारा प्रदत्त महान् धन सम्वरण ऋषि के गृह में उपस्थित हो।'

यहाँ प्रश्न यह है कि यह इतिहास किस युग का है ? लक्ष्मण कौन थे ? क्या यह राम के भाई ही हैं ? यह कैसे अपौरुषय

वेद हैं ? जिनमें ऐसी अनिश्चित और भोंडी गाथायें हैं।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का निम्न अर्थ किया है :—

(उत) (त्ये) (मा) *माम्* (ध्वन्यस्य) *ध्वनिषु कुशलस्य* (जुष्टाः) *प्रीताः* (लक्ष्मण्यस्य) *सुलक्षणेषु भवस्य* (सुरुचः) *सुष्ठु-प्रीतिमत्यः* (यतानाः) (मह्ना) *महत्त्वेन* (रायः) *धनस्य* (संवरणस्य) *स्वीकृतस्य* (ऋषेः) *मन्त्रार्थविदः* (व्रजम्) *व्रजन्ति यस्मिन्* (न) *इव* (गावः) *धेनवः* (प्रयताः) *प्रयतमानाः* (अपि) (ग्मन्) *गच्छन्ति।*

अन्वय :—*ये ध्वन्यस्य संवरणस्य रायो मह्नोत लक्ष्मण्यस्यर्षेः प्रयतास्त्ये गावो व्रजन्नापि ग्मन् तथा मह्ना मा मामपि ग्मन्। या यतानाः सुरुचो मा जुष्टाः सन्ति ताः सर्वे प्राप्नुवन्तु।*

भावार्थ :—*अत्रोपमालं०—ये मनुष्याः प्रयत्नेनाऽप्राप्तस्य प्राप्तिं लब्धस्य रक्षणं कुर्वन्ति ते वत्सान्गाव इव धनमाप्नुवन्तीति।*

जो (ध्वन्यस्य) ध्वनियों में कुशल और (संवरणस्य) स्वीकार किये हुए (रायः) धन के (मह्ना) महत्व से (उत) और (लक्ष्मण्यस्य) श्रेष्ठ लक्षणों में उत्पन्न (ऋषेः) मन्त्रों के अर्थ जानने वाले के सम्बन्ध में (प्रयतः) प्रयत्न करते हुए जन हैं (त्ये) वे (गावः) गौवें (व्रजम्) गोष्ठ को (न) जैसे (अपि) निश्चित (ग्मन्) जाती हैं वैसे महत्व से (मा) मुझको भी प्राप्त होते हैं और जो (यतानाः) यत्न करती हुई (सुरुचः) उत्तम प्रीति वाली मुझको (जुष्टाः) प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त हैं उनको सब प्राप्त होवें।

इस मन्त्र में उपमालं०—जो मनुष्य प्रयत्न से नहीं प्राप्त हुए की प्राप्ति और प्राप्त हुए की रक्षा करते हैं वे जैसे बछड़ों को गौवें वैसे धन को प्राप्त होते हैं।

यजुर्वेद के पहले मंत्र की साक्षी

हम ऊपर लिख चुके हैं कि सायण ने भाष्य करने में यजुर्वेद को ऋग्वेद पर प्रथमता दी क्योंकि सायण के मत में यजुर्वेद अध्वर्यु से सम्बन्ध रखता है। वह यज्ञ का शरीर है।[1] ऋग्वेद और सामवेद तो जप और गान के काम आते हैं जो यज्ञ रूपी शरीर के अंग हैं। स्वामी दयानन्द का मत इससे सर्वथा विपरीत है। वह लिखते हैं :—

(१) ईश्वरेण जीवानां गुणगुणिविज्ञानोपदेशाय ह्यृग्वेदे सर्वान्

---

[1] हेमाद्रिकृत 'चतुर्वर्ग चितामणि' के व्रत-खण्ड में यजुर्वेद के सम्बन्ध में एक उपहास-पूर्ण श्लोक दिया गया है।

अजास्यः पीतवर्णः स्यात् यजुर्वेदोऽक्षसूत्र धृक्।
वामे कुलिश पाणिस्तु भूतिदो मंगलप्रदः ॥

यजुर्वेद का मुँह बकरे का है। रंग पीला है। रुद्राक्ष की माला गले में है। बांये हाथ में वज्र है। ऐसा यजुर्वेद विभूति और मंगल का देने वाला है। निर्णयसागर प्रेस बम्बई में १६१२ ई० में जो 'शुक्ल यजुर्वेद' उव्वट और महीधर कृत भाष्यों सहित छपा है उसके पहले ही पृष्ठ पर यजुर्वेद का एक चित्र दिया गया है जिसमें एक पुरुष बैठा है, जिसका मुँह बकरे का है। हाथ में वज्र तथा गले में रुद्राक्ष की माला है, जो हेमाद्रि के श्लोक का एक चित्रानुवाद मात्र है।

पदार्थान् व्याख्याय इदानीं मनुष्यैस्तेभ्यो यथायथोपकारग्रहणाय क्रियाः कथं कर्तव्या इत्युपदिश्यते।

(२) तत्र यद् यदंगं यद् यत् साधनं चोपेक्षितं तत् तदत्र यजुर्वेदे प्रकाश्यते।

(३) कुतः। यावत् क्रियानिष्ठं ज्ञानं न भवति नैव तावच्छ्रेष्ठं सुखं जायते।

(४) विज्ञानस्य क्रिया हेतुत्व-प्रकाशकारकत्व-अविद्यानिवर्त्तकत्व-धर्मे प्रवर्त्तकत्वैर्धर्म पुरुषार्थयोः संयोजकत्वात्।

(५) यद् यत्कर्म विज्ञाननिमित्तं भवति तत् तत् सुखजनकं संपद्यते।

(६) तस्मान्मनुष्यैर्विज्ञानपुरःसरमेव कर्मानुष्टानं कर्तव्यम्।

(७) कुतः। जीवस्य चेतनत्वादकर्मतया स्थातुमशक्यत्वात्।[२]

अर्थ:—

(१) ईश्वर ने ऋग्वेद में पदार्थों की जिससे जीवों को गुण और गुणी का ज्ञान हो जाय व्याख्या कर के फिर उन्हें पदार्थों को उपयोग में लाने के लिये यजुर्वेद का उपदेश दिया।

(२) जिस-जिस अंग से जो-जो साधन अपेक्षित है उसका वर्णन यजुर्वेद में किया है।

(३) क्यों ? इसलिये कि जब तक ज्ञान द्वारा क्रिया नहीं की जाती तब तक सुख नहीं होता।

---

२ देखो स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य की भूमिका

(४) विज्ञान के पांच कार्य हैं :—क्रिया का हेतु है, प्रकाश का कारण है, अविद्या को दूर करता है, धर्म में प्रवृत्ति करता है, धर्म और पुरुषार्थ में मेल कराता है।

(५) जो काम विज्ञान से किया जाता है। उससे सुख होता है।

(६) इसलिये लोगों को चाहिये कि जो कार्य करें विज्ञान के अनुसार करें।

(७) क्यों कि जीव चेतन है। विना कार्य किये तो रह नहीं सकता।

यह दृष्टिकोण का भेद केवल तर्क-सम्बन्धी ही नहीं है। इसका वेद-भाष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। यजुर्वेद के पहले मंत्र पर विचार कीजिये :—

(१) तां पर्णशाखां, इषे त्वेति मंत्रेणाध्वर्युः साकल्येन छिन्द्यात्। छेदकाले।

अध्वर्युः—*इषे त्वेति यद् वाक्यमाह तद्वाक्यं वृष्टिसिद्ध्यर्थम्। अधिकेनादरेण सेवते ऊर्जे त्वेति मंत्रेण तां शाखामनुमृज्यात्। अनुमार्जनमानुलोम्येन तस्यां संलग्नधूल्यादि-अपनयनम्।*

(२) काण्वब्राह्मणे छिनत्ति, अनुमार्ष्टि इति विनियोग भेद श्रवणात् तदनुसारेण 'इषे त्वा छिनद्मि' ऊर्जे त्वाऽनुमार्ज्मि इति क्रियापदे अध्याहृते सति, अर्थद्वयस्मार्कत्वाद् भिन्नौ मंत्रौ।

(३) हे पलाश शाखे इष्यमाणायै वृष्ट्यै त्वामाच्छिनद्मि।

(४) हे पलाश शाखे ऊर्जे रसाय त्वामनुमार्ज्मि[3] ।

अर्थ :—(१) अध्वर्यु पलाश की शाखा को काटता है और *इषेत्वा, ऊर्ज्वेत्वा* कहता है । काटकर धूल आदि साफ करता है ।

(२) काण्व ब्राह्मण में 'काटना और पौंछना' यह दो विनियोग दिये हैं । अतः यहाँ 'काटना' और पौंछना, क्रियाओं को अपनी ओर से मिलाना पड़ा ।

(३) अर्थात् हे पलाश शाखे, तुझे मैं वृष्टि के लिये काटता हूँ ।

(४) हे पलाश शाखे रस के लिये तुझे पौंछता हूँ ।

वेद मंत्र में पलाश शाखा का नाम तक नहीं । कण्व ने यह विनियोग किस आधार पर कर लिया । 'इषेत्वा,ऊर्ज्वेत्वा' । यह यजुर्वेद तो वायु ऋषि द्वारा प्रकट हुआ था । वायु ऋषि का कोई लेख इस विषय का नहीं मिलता । यदि यह विनियोग पीछे से स्थापित किया गया तो कल्पित हो गया और इसमें रूप-समृद्धता भी नहीं है ।

पलाश की शाखा अचेतन या जड़ है ? फिर उसको सम्बोधन करने से क्या तात्पर्य ? सायण इसका उत्तर देते हैं :—

यद्यपि अचेतना शाखा तथापि तदभिमानिनीं देवतां उद्दिश्य एवं अभिधातुं शक्यते । यथा शास्त्रज्ञा अचेतनेऽपि शालग्रामे शास्त्र-

---

[3] देखो काण्वशाखा शुक्ल यजुर्वेद, सायण-भाष्य, अध्याय १, मंत्र १ ।

दृष्ट्या विष्णु सन्निधिमभिप्रेत्य तं विष्णुं संबोधनाऽऽवाहनादीन् षोडशोपचाराननुतिष्ठन्ते।

यद्यपि पलाश शाखा जड़ है तथापि जैसे शालग्राम की बटिया को विष्णु मानकर पुकारना-बुलाना आदि सोलह उपचार किये जाते हैं, उसी प्रकार पलाश के अभिमानी देवता का सम्बोधन यहाँ अभिप्रेत है। परन्तु इस उपचार का वेद में तो संकेत तक नहीं। जो भाष्य ऐसी कल्पनाओं के आधार पर किया जाय वह कैसे विश्वसनीय हो सकता है। कात्यायन हों, या याज्ञवल्क्य, या कण्व; ईश्वर-कृत वेद के लिये तो यह प्रमाण हो नहीं सकते।

स्वामी दयानन्द वेदों को स्वतः प्रमाण समझकर ऐसी कल्पित गाथाओं का आश्रय नहीं लेते। उनका अर्थ इस प्रकार है :—

(१) (इषे) अन्न विज्ञानयो प्राप्तये। इषमित्यन्ननामसु पठितम्। (निघं० २।७)। *इषतीति गति कर्म सु पठितम्।* (निघ० २।१४)। *अस्माद् धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति।*

(२) (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम्।

(३) (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय। ऊर्यसः (शतपथ० ५। १।२।८)

(४) अनन्त पराक्रमानन्दरसघनम्।

इसका अर्थ यह हुआ कि विज्ञान स्वरूप ईश्वर! मैं अन्न और विज्ञान की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना करता हूँ। हे

पराक्रम और आनन्द स्वरूप ईश्वर मैं पराक्रम-रूपी उत्तम रस के लाभ के लिये आपका आवाहन् करता हूँ।

कहाँ पलाश की पूजा और कहाँ चेतन परब्रह्म की। इसका कारण स्वयं सायण नहीं हैं, परन्तु वह पौराणिक परम्परा है जिसका विरोध सायण को या तो सूझा नहीं, या उन्होंने चाहा नहीं।

मंत्र का अगला भाग है '*वायवस्थ*', इसके सम्बन्ध में आचार्य सायण ने कात्यायन, कण्व, तित्तिरिः आदि के दिये हुये विनियोगों का उल्लेख किया है।

(१) 'उत्तर मंत्रस्य विनियोगमाह कात्यायनः। 'मातृभिर्वत्सान्, संसृज्य वत्सं शाखया उपस्पृशति 'वायवस्थोपायव स्थ इति चैक इति।'

(२) कण्वोऽप्याह। 'स वत्समुपस्पृशति। 'वायवस्थ' इति। एतावानेव कण्वाऽभिमतो मंत्रः।'

(३) 'उपायवस्थ' इति अयं उत्तरभागः तित्तिरेः अभिमतः। तस्मादेक इत्यन्यदीयमतत्वेन कात्यायन उदाजहार।

(४) तित्तिर्यभिमतं विनियोगं आह बोधायनः।

(५) तया वत्सान् अपाकरोति 'वायव स्थोपायव स्थ' इति।

(६) तत्र उत्तरभागं कण्वो निराचकार। 'उपायव स्थ' इत्युहैक आहुस्तद्गु नाद्रियेत इति।

(१) कात्यायन ने विनियोग में कहा कि बछड़ों को उनकी गोमाताओं से अलग करके पलाश की शाखा से उनको छूता है

और कहता है 'तुम वायव हो, उपायव हो'।

(२) कण्व का मत है कि मंत्र इतना ही है 'वायवस्थ'। 'उपायवस्थ' नहीं।

(३) 'उपायवस्थ' यह तित्तिरि का मत है। कात्यायन ने अन्य मत को केवल उद्धृत कर दिया है।

(४) बोधायन तित्तिरि का मत स्वीकार करता है।

(५) अर्थात् शाखा से बछड़ों को हांक कर कहे 'वायवस्थ, उपायवस्थ'।

(६) कण्व कहता है कि यह ठीक नहीं। पिछला पद गलत है। यह झगड़े केवल विनियोग के कारण हैं।

बछड़ों को वायु क्यों कहा ? इसके लिये बड़ी-बड़ी जटिल कल्पनायें करनी पड़ीं, जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं :—

(१) वा गति गन्धनयोरिति धातुः। वान्ति गच्छन्तीति वायवो गन्तारः। हे वत्सा यूयं वायवः स्थ, मातृभ्यः सकाशात् अन्यत्र गंतारो भवत। सह मातृभिर्गमने सति सायो दोहो न लभ्यत इत्यभिप्रायः।

'वा' धातु का अर्थ है गति और गन्धन। 'वायवः' का अर्थ हुआ जाने वाले। हे बछड़ों तुम वायु हो। अपनी माताओं से अलग चले जाते हो। क्योंकि माताओं के साथ जाओगे तो दूध पीलोगे और सायंकाल को दूध कैसे दुहा जा सकेगा।

(२) अथवा वायु सादृश्याद् वत्सानां वायुत्वम्। यथा वायुः पाद प्रक्षालननिष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोधयित्वा पुनाति, एवं

वत्सा अपि अनुलेपन……गोमयादि दानेन भूमिं पुनन्ति। तस्माद् वायुसादृश्यम्।

जैसे हाथ-पैर धोने, थूकने आदि से अपवित्र भूमि को वायु शुद्ध कर देती है, ऐसे ही बछड़ों के गोबर आदि से भूमि लीपी जाती है। इसलिये बछड़ों को वायु कहा।

(३) अथवा मनुष्याणामिव पशूनां स्थान निवासाय गृहनिर्माण सामर्थ्याभावान् निरावरणेऽन्तरिक्षे सं चरणाद् अन्तरिक्षमेव पशूनां दैवता। तस्य चान्तरिक्षस्य वायुरधिपतिः। स च वायुरेतान् पशून् स्वकीयावयवानिव पालयतीति पशूनां वायुरूपत्वम्।

मनुष्यों के समान पशुओं में घर बनाने का सामर्थ्य नहीं। अतः वे खुले अन्तरिक्ष में विचरते हैं। इसलिये अन्तरिक्ष पशुओं का देवता है। वायु उसका अधिपति है। वह पशुओं को अपना अवयव समझकर पालता है। इसलिये बछड़ों को वायु कहा। यह तित्तिर का मत है।

(४) अथवा तृणभक्षणाय आह इति। तत्र तत्रारण्ये चरित्वा सायङ्काले वायुवद्वेगेन यजमानगृहे समागमनाय पशून् प्रकर्षेण-कारयितुं वायुरूपत्वमुच्यते।

या बछड़ों को 'वायु' इसलिये कहा कि वह हवा के समान वेग से वन में घास चरकर घर आ जावें।

अब स्वामी दयानन्द का अर्थ भी देखना चाहिये :—

(वायवः) सर्व क्रिया प्राप्ति हेतवःस्पर्शगुणा भौतिकाः प्राणा-दयः। (स्थ) सन्ति।

जो प्राण आदि क्रियाओं के साधक हैं।

(देवो वः सविता प्रार्पयतु) *सर्वजगदुत्पादकः सकलैश्वर्यवान् जगदीश्वरः प्रकृष्टतया संयोजयतु।*

ईश्वर इन प्राणों को अच्छी तरह लगावे।

इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा ने मनुष्यों को जगत् में वृद्धि करने के साधन दिये हैं। इनको चाहिये कि ईश्वर की सहायता से उद्योग करके अपने कार्य में सफल होवें। कोई उनका बाधक न हो।

हमने यहाँ पहले मन्त्र का कुछ भाग ही दिया है। केवल नमूने के रूप में। यदि हर वाक्य का सायणकृत-भाष्य देकर उसकी स्वामी दयानन्द कृत भाष्य से तुलना की जाय तो कई पुस्तकें भरी जा सकती हैं।

'*व*' का अर्थ है 'तुम लोग'। स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ 'हम, तुम, सभी' किया है। उपदेशक जनता को सम्बोधन करके दोनों प्रकार के प्रयोग कर सकता है, 'आप लोगों को ऐसा चाहिये' या 'हम लोगों को ऐसा चाहिये'। इस प्रकार 'तुम' में 'हम' का और 'हम' में 'तुम' का समावेश रहता ही है। '*अघ्न्या*' का अर्थ स्वामी दयानन्द ने केवल योगरूढ़ि न लेकर यौगिक लिया है।

वर्धयितुमर्हा हन्तुमनर्हा गाव इन्द्रियाणि पृथिव्यादयः पशवश्च।

अर्थात गायें, इन्द्रियाँ, भूमि, पशु सभी का नाम 'अघ्न्या'

है क्योंकि मनुष्य का कर्तव्य है कि इनकी वृद्धि करे और इनको नाश से बचावे।

केवल यज्ञपरक अर्थ करने में 'गाय' ली जा सकती है। परन्तु यदि यज्ञ को जीवन का प्रतीक माना जाय तो इस दृष्टि से भी 'गाय' के स्थान में वे सब उपकरण लेने होंगे जो जीवन के लिये उपयोगी हैं। यह सब उपकरण वेद मन्त्र के शब्दों से साक्षात् प्रकाशित होते हैं। किसी उलटे-सीधे विनियोग की कल्पना की अपेक्षा नहीं है।

आचार्य सायण पर कात्यायन का इतना प्रभाव है कि वह स्वतंत्रतया सोच ही न सके। कात्यायन के निर्देश 'पशु-हिंसा' से भरे पड़े हैं। यजुर्वेद के छठवें अध्याय का ग्यारहवां मन्त्र है :—

घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथा ७ रेवति यजमाने प्रियंधा आविश।

इस पर कात्यायन का यह विनियोग है :—

'आहर शाखां, समाहर यूपशकलमाहर इति उत्का उभौ जुह्वे ताभ्यां पशोर्ललाटं उपस्पृशति घृतेनाक्तौ इति।

उसी के अनुरूप सायण अर्थ करते हैं :—

'हे शाखे यूपशकल युवां उभौ घृतेनाक्तौ सन्तौ पशुमेनं त्रायेथां पालयेथाम्।'

यह सब क्रिया पशु मार कर आहुति देने के सम्बन्ध में है। पशु को मार कर होम करने से यह आशा की जाती है कि पशु की रक्षा होगी। वह स्वर्ग जायेगा और यजमान को भी ले जायगा। यह आशय समस्त क्रिया से विदित होता है। विचित्र

बात यह है कि इधर पशु की हत्या भी की जाती है उधर पलाश-शाखा या यूप-शकल से उसकी रक्षा की प्रार्थना भी की जाती है।[४]

स्वामी दयानन्द कात्यायन के बन्धन से मुक्त हैं। इसका वह निम्न अर्थ करते हैं :—

'हे घृत प्रसक्त अर्थात् घृत चाहने और यज्ञ के कराने हारो, तुम गौ आदि पशुओं को पालो।

इस अर्थ का कात्यायन के कल्पित विनियोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। मन्त्र में हिंसा-परक किसी क्रिया का उल्लेख नहीं है।

---

४. माध्यन्दिनी शाखा के शुक्ल यजुर्वेद का भाष्य करते हुये उब्बट और महीधर ने भी कात्यायन ४।२।१-३ के प्रमाणानुसार पहले मन्त्र का वैसा ही अर्थ किया है :—

'पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वा इषे त्वा इत् ऊर्जेत्वा इति वा छिनद्मि इति वा उभयोः साकाङ्क्षत्वात् सन्नमयामीति वोत्तर इति।

अर्थात् पलाश की शाखा या शामिली की शाखा को काट कर इषेत्वा आदि मन्त्र बोलता है।

यजुर्वेद, अध्याय ६, मंत्र ११ के अर्थ करने में भी उब्बट और महीधर दोनों ने सायण के समान ही कात्यायन का अनुकरण किया है। अर्थात् स्वरू (यूपशकल) और शास (काटने का हथियार) दोनों को सम्बोधन करके मरे हुये पशु को सुरक्षित रखने की प्रार्थना की गई है। यह अच्छा मखौल है कि पहले पशु को तलवार से मारो और फिर तलवार से प्रार्थना करो कि तुम इसकी रक्षा करना।

यौगिक व्युत्पत्तियों पर सायण की श्रद्धा

कुछ लोग जब स्वामी दयानन्द को शब्दों की व्युत्पत्तियों के आधार पर शब्दों के वह अर्थ देते देखते हैं जो लोक प्रचलित अर्थों के विपरीत हैं तो उनका यह विचार बन जाता है कि बाल की खाल निकालने के लिये और अपनी मन-मानी सिद्ध करने के लिये स्वामी दयानन्द ने इस शैली का अवलम्बन किया। परन्तु सायण-भाष्य देखने से प्रतीत होता है कि सायण ने भी इस शैली का प्रतिपादन किया है और जहाँ-जहाँ वह इस शैली के विशुद्ध प्रतिपादक रहे, वहाँ उनके वेदार्थ में वह असंगति न होने पाई जो इस शैली को उपेक्षा और गाथाओं के आदर करने के कारण अन्यत्र उत्पन्न हो गई। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं :—

वह मंत्र जिनमें सायण ने यौगिक अर्थ ही दिये हैं।

(१)

आयस्ते अग्न इधते अनीकं वशिष्ठ शुक्र दीदिवः पावक। उतो न एभिः स्तवथैरिह स्याः।

(ऋग्वेद, मंडल ७, सूक्त १, मन्त्र ८)

(वशिष्ठ) *श्रेष्ठ* (शुक्र) *शुभ्र* (दीदिवः) *दीप्त* (पावक) *शोधक हे* (अग्ने) (ते) *तव* (अनीकं) *तेजः* (यः) (आ) (इधते) *समेधयति तस्यैव* (नः) *अस्माकम्* (उतो) *अपि च* (एभिः स्तवथैः) *स्तोत्रैः* (इह) *अस्मिन् यज्ञे* (स्याः) *भव।*

यहाँ 'वशिष्ठ' का अर्थ न तो 'रामचन्द्र के गुरु वशिष्ठ' है, न सातवें मण्डल के 'ऋषि वशिष्ठ' है। अपितु 'अग्नि' का विशेषण होने से 'वशिष्ठ' का अर्थ है 'श्रेष्ठ'।

(२)

वयं हि ते अमन्मह्यान्तादा पराकात्। अश्वे न चित्रे अरुषि।

(ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त ३०, मंत्र २१)

यहाँ 'अश्वे' का अर्थ किया है 'व्यापनशीले' 'अश व्याप्तौ' और 'अरुषि' का 'उषः कालाभिमानिनि देवते' अर्थात् उषा व्यापनशील है। वह सब जगह फैल जाती है।

(३)

सहसस्पुत्र (१ । ४० । २)

सा०—*बलस्य बहुपालक ब्रह्मणस्पते। 'पुत्रः पुरुजायते निपरणाद्वा।'* (निरु० २।११)

यहां सायण ने 'पुत्र' का अर्थ 'पालक' किया है। स्वामी दयानन्द ने इसको साधारण अर्थ में लिया है।

(४)

वरुण (१ । ५० । ६)

सा०—*अनिष्टनिवारक सूर्य। 'वृञ् वरणे'।*

द०—*सर्वोत्कृष्ट।*

यहां सायण ने 'वरुण देवता' न लेकर 'वरुण' का अर्थ 'सूर्य' किया है। स्वामी दयानन्द का अर्थ अधिक तरल है। सभी सर्वोत्कृष्ट पदार्थ 'वरुण' कहे जा सकते हैं।

(५)

उर्वशीः (४ । २ । १८)

सा०—*उरुभ्यामश्नुवानाः 'उर्वभ्यश्नुत उरुभ्यामश्नुते'* । (निरु० ५।१३) जांघों के परिश्रम से प्राप्त।

द०—*बहुव्यापिकाः। उर्वशीति पद नाम।* (निघंटु ४।२)

यहाँ विक्रम वाली 'उर्वशी अप्सरा' का अर्थ नहीं।

उर्वशी (५ । ४१ । १६)

सा०—*माध्यमिकी वाक्।*

द०—*उरवो बहवो वशे भवन्ति यथा सा वाणी।* (निघंटु ४।२)

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। सायण ने 'उर्वशी' शब्द की जो व्युत्पत्ति की अर्थात् 'उर्वभ्यश्नुत उरुभ्यामश्नुते' (जो जंघाओं द्वारा प्राप्त हो)। इस व्युत्पत्ति को ठीक मानते हुये भी दो अर्थ लिये जा सकते हैं—एक अश्लील और दूसरा सुन्दर। वस्तुतः 'जंघा' प्रतीक हैं परिश्रम का। इसीलिये वैश्यों की उपमा जंघाओं से दी है। यदि हमारा ध्यान अश्लील अर्थों की ओर न जाय तो 'उर्वशी' से 'इन्द्र-सभा' की अप्सरा का कुछ भी बोध न हो सकेगा। यों तो हर

अच्छे शब्द के अश्लील अर्थ भी लिये जा सकते हैं। परन्तु अश्लीलता-प्रिय प्रवृत्ति अच्छी तो नहीं है।

(६)

शच्या शचिष्ठः (४ । २० । ६)

सा०—*प्रज्ञया अतिशयेन प्राज्ञः ।*

द०—*प्रज्ञया क्रियया व अतिशयेन प्राज्ञः ।*

दोनों आचार्यों ने 'प्राज्ञ' अर्थ किया है। इन्द्र-पत्नी 'शची' नहीं।

(७)

श्येनः (४ । २६ । ६)

सा०—*शसनीयगमनः ।*

द०—*प्रवृद्धवेगः ।*

दोनों का अर्थ एक ही है। यहाँ 'पक्षी' का अर्थ नहीं लिया गया अपितु 'वेगवाला' ऐसा अर्थ किया है।

(८)

अश्वस्य (४ । ३८ । ६)

सा०—*व्यापकस्य ।*

द०—*सकल शुभगुण व्यापकस्य ।*

अश्वस्य (१ । १६४ । ३४)

सा०—*व्याप्तस्य आदित्यस्य ।*

द०—*अश्ववत् वीर्यवतः ।*

(९)

उक्षाणम् (१ । १६४ । ४३)

सा०—*फलस्य सेक्तारम्* ।

द०—*सेचकम्* ।

यहाँ 'पृथिवी को सिर पर उठाने वाले बैल' का अर्थ नहीं लिया ।

(१०)

वृक्षः (१ । १८२ । ७)

सा०—*रथः । विकारे प्रकृतिशब्दः* । (प्रकृति शब्द विकृति के अर्थ में material for the thing made)

द०—*साधारण वृक्ष* ।

(११)

गृत्समदाः (२ । १९ । ८)

सा०—*गृत्समदो गृत्समदनो । गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुति कर्मणः* (निरू० ९।५) *स्तोता* ।

द०—*गृत्सोऽभिकांक्षितो मद आनन्दो येषान्ते* । (आनन्द-चाहने वाले)

(१२)

नहुषस्य (५ । १२ । ६)

सा०—*मनुष्यस्य* (१० । ९९ । ७ को भी देखें)

द०—*मनुष्यस्य* (निघं० २।३)

नाहुषाणि (६ । २२ । १०)

सा०—*मनुष्य सम्बन्धीनि । नहुषा इति मनुष्यनामैतत् ।*

द०—*मनुष्य सम्बन्धीनि ।*

नहुषः (७ । ६ । ५)

सत्येबद्धः

Monior M. Williams :—

√नह् C. IV. P.A. (नह्यति नह्यते) to bind, to tie.

(१३)

शेपः (५ । १२ । ६)

सा०—*शिष्यत इति शेषः । पुत्रः ।*

द०—*यः शिष्यते सः ।*

(१४)

मघोनः (५ । ३१ । ८)

सा०—*मघवतो हविष्मतो यजमानस्य ।*

द०—*धनाढ्यान् ।*

यहाँ 'इन्द्र देवता' का अर्थ नहीं ।

(१५)

अजातशत्रुम् (५ । ३४ । १)

सा०—*अनुत्पन्ना शातयितारो यस्य तम् ।* (जिसको हराने वाले कोई उत्पन्न नहीं हुये ।)

द०—*न जाताः शत्रवो यस्य तम् ।*

(१६)

असुरम् (७ । २ । २)

सा०—*बलवन्तम्* ।

द०—*मेघमिव वर्तमानम्* ।

(१७)

वैश्वानरः (७ । ५ । १)

सा०—*विश्वनरहिताग्निः* ।

द०—*विश्वेषु नरेषु राजमानः* ।

(१८)

जारः (७ । ६ । १)

सा०—*सर्वेषां प्राणिनां जरयिता* ।

द०—*रात्रेः जरयिता सूर्यः* ।

'जार' शब्द ऋग्वेद, मंडल १, सूक्त ६६, के सातवें और आठवें मन्त्र में आया है। सायण ने इसका अर्थ किया है 'जरयिता' अर्थात् 'पति' क्योंकि पति कन्या के कन्यात्व को दूर कर देता है। स्वामी दयानन्द ने रात्रि का 'जरयिता' अर्थात् सूर्य लिया है। व्युत्पत्तियों में भेद नहीं। साधारण बोलचाल में 'जार' शब्द व्यभिचारी का पर्याय हो गया है। यदि 'जार' का अर्थ 'पति' लिया जा सके जो दोनों आचार्यों का मत है तो कई वेद मन्त्रों का सुन्दर अर्थ लिया जा सकता है और वेदों से अश्लीलता का कलंक दूर हो सकता है।

(१९)

त्र्यम्बकम् (७ । ५९ । १२)

सा०—*त्रयाणां ब्रह्मविष्णुरुद्राणां अम्बकं पितरम् ।*

द०—*त्रिषु अम्बकं रक्षणं यस्य रुद्रस्य परमेश्वरस्य । यद्वा, त्रयाणां जीव-कारण-कार्याणां रक्षकः तम् ।*

यहाँ 'तीन आँखों वाले शिव' का नाम नहीं है ।

पृथिवी (ऋ० १० । ६३ । १०)

यहाँ 'नाव' (नौका) का विशेषण है 'पृथिवी' । इसलिये सायण ने पृथिवी का अर्थ किया है 'विस्तृताम्' (फैली हुई) । इसी प्रकार 'अदिति' भी 'नाव' का विशेषण है । इसलिये 'अदिति' का अर्थ किया 'अदीनां' (जो किसी की दासता में नहीं) । यह सुन्दर और ठेठ यौगिक अर्थ है ।

८

व्यक्तिवाचक संज्ञायें

यह सभी जानते हैं कि व्यक्तियों की पहचान के लिये मनुष्यों तथा अन्य व्यक्तियों के विशेष नाम रख लिये जाते हैं जिनको व्यक्तिवाचक संज्ञा कहते हैं। यह नाम नये गढ़े नहीं जाते। शब्द तो पहले से प्रचलित होते हैं और उनका अर्थ भी होता है। परन्तु जब लोक में उन शब्दों का उन-उन विशेष व्यक्तियों के लिये ही प्रयोग होने लगता है तो वे व्यक्तिवाचक संज्ञा बन जाते हैं और बहुधा उनके मौलिक अर्थों का लोप भी हो जाता है। जैसे 'रणञ्जय' का अर्थ है 'रण में विजय प्राप्त करने वाला'। परन्तु 'रणञ्जय' ऐसे पुरुष का भी नाम हो सकता है जो अत्यन्त कायर और निर्बल हो। माता-पिता जब अपनी सन्तान का नाम रखते हैं तो प्रचलित शब्द-कोष में से अपनी रुचि के अनुसार उत्तम शब्द छाँट लेते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उन-उन व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की उत्पत्ति भी उन-उन व्यक्तियों की उत्पत्ति के साथ हुई। वेदों में अनेक शब्द ऐसे हैं जो ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम भी हैं। पुराने ऐतिहासिक व्यक्तियों के भी और वर्तमान समय के व्यक्तियों के भी। और

भविष्य में कौन जानता है कि यह नाम कितने व्यक्तियों के रक्खे जायं। परन्तु उनसे यह परिणाम निकालना सर्वथा अनुचित होगा कि वेदों में यह शब्द उन उन व्यक्तियों के नाम हैं। कल्पना कीजिये कि 'अर्जुन' शब्द वेद में आया। 'अर्जुन' का अर्थ है 'श्वेत'। युधिष्ठर का भाई 'अर्जुन' था। संभव है कि उससे पूर्व भी बहुत से 'अर्जुन' हो चुके हों और आजकल भी 'अर्जुन' बहुत हैं, तो कैसे जाना जाय कि वेद में आया हुआ 'अर्जुन' शब्द पाण्डव पुत्र या द्रौपदी का पति था? कभी-कभी व्यक्तियों के नाम रखने वाले इतिहास-वेत्ताओं के लिये एक बड़ी उलझन उत्पन्न कर देते हैं। वे न केवल एक ऐतिहासिक या प्राचीन प्रसिद्ध पुरुष का नाम केवल एक ही पुरुष के लिये चुनते हैं अपितु कई पीढ़ियों तक उसका अनुकरण होता है। जैसे किसी ने अपने पुत्र का नाम 'हरिश्चन्द्र' रक्खा और पौत्र का 'रोहताश्व'; या पुत्र का नाम 'इन्द्र' रक्खा और पौत्र का 'जयन्त'। इस प्रकार कई 'इन्द्र' और कई उन्हीं के पुत्र 'जयन्त' हो गये। और अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उनके साथ अलग-अलग सम्बन्ध हो जाने से ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञान में भी गोल-माल हो गया। वेदों को अपौरुषेय और अतिप्राचीन मानने वाले तो ऐसी अनर्गल कल्पनाओं को ध्यान में भी नहीं ला सकते। किसी ऐसे शब्द को ऐतिहासिक सिद्ध करने के लिये ऐसा सुदृढ़ प्रमाण होना चाहिये कि इस प्रकरण में यह शब्द उन विशेष इतिहास से ही सम्बन्ध रखता है और उसका कोई अन्य अर्थ हो ही नहीं सकता। परन्तु

सायण आदि कतिपय आचार्यों ने ऐसे शब्दों को ऐतिहासिक मान लिया है और इस कल्पना के आधार पर उनका सम्बन्ध काल या समय की अपेक्षा दूरवर्ती घटनाओं से कल्पित कर लिया है। इस प्रकार पहले एक कल्पना की। फिर उसके आधार पर दूसरी, फिर दूसरी के आधार पर तीसरी, रेत की नींव पर रेत की दीवारें बनाते चले गये। इस प्रकार भारतीय साहित्य भी दूषित हो गया और भारतीय इतिहास भी। आचार्य दयानन्द का आचार्य सायण से यहाँ मौलिक मतभेद है। आधुनिक विद्वान् सायण के पोषक प्रतीत होते हैं क्योंकि उनको आशा है कि इस आधार पर भारतवर्ष का एक क्रम-गत इतिहास बनाया जा सके। परन्तु इतिहास की गवेषणा एक बात है और इतिहास का निर्माण दूसरी बात। इतिहास खोज का विषय है, निर्माण का नहीं। अब तक इस विषय में आधुनिक विद्वज्जगत् में जो प्रयास हुआ है वह उलझनों को घटाने के स्थान में बढ़ा रहा है। और वेद के विषय में तो भारी भ्रम उत्पन्न कर रहा है। यहाँ हम सायण-भाष्य के कुछ नमूने देते हैं। यहाँ एक बात विशेष महत्व की है। सायण ने यौगिक अर्थों को सर्वथा भुलाया नहीं। उन्होंने अपने पाण्डित्य के बल पर शब्दों की व्युत्पत्तियां भी की हैं जो आदर के योग्य हैं। परन्तु उनके साथ वेद मंत्रों का अर्थ करने में गोल-माल हो गया है। स्वामी दयानन्द ने प्रयास किया है कि यह भूल न होने पाये। यद्यपि भूमि को सुदृढ बनाने के लिये विस्तृत खोज की आवश्यता है।

यदुम् (ऋ० १ । ५४ । ६, १ । १७४ । ६)

सा०—*यदुनामानं राजानम्* । (एक राजा का नाम)

द०—*प्रयतमानम्* । '*यती प्रयत्ने*' । *उः प्रत्ययो जस्त्वञ्च* ।

(प्रयत्न करने वाला)

सायण ने १।१०८।८ में 'यदुषु' का अर्थ किया है 'नियतेषु परेषां अहिंसकेषु मनुष्येषु' । और 'तुर्वशेषु' का अर्थ 'हिंसकेषु' ।

भृगवः (ऋ० १ । ५८ । ६)

सा०—*एतत्संज्ञाः महर्षयः* । (भृगु नाम के ऋषि)

द०—*परिपक्वविज्ञानाः मेधाविनो विद्वांसः* । (पूर्ण ज्ञानी विद्वान्)

शम्बरम् (१ । ५१ । ६)

सा०—*एतन्नामानं असुरम्* ।

द०—*बलम्* । *शम्बरम् इति* । (बलनाम, निघण्टु २।६)

शम्बरम् (१ । ५४ । ४)

सा०—*एतत्संज्ञकं असुरम्* ।

द०—*शं सुखं वृणोति येन तं मेघमिवशत्रुम्* ।

शम्बरम् (१ । ५९ । ६)

सा०—*मेघम् निरोधकारिणम्* ।

द०—*मेघम्* ।

शम्बरम् कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं है । असुर कौन हैं और उनका क्या इतिहास है, यह कल्पनाओं का विषय हो गया है ।

स्वामी दयानन्द कृत व्युत्पत्ति तो ठीक प्रतीत होती है और यह भी प्रकट होता है कि सायण ने जो 'निरोधकारी' अर्थ किया वह ठीक है। मेघ भी सूर्य को ढक लेने के कारण निरोधकारी ही है। परन्तु एक बात विचारणीय है। कोई बदमाश आदमी भी अपने पुत्र का नाम बदमाश नहीं रखता। 'शं' अर्थात् सुख को छिपाने से 'शम्बर' कोई अच्छे अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। इसलिये 'शम्बर' शब्द को व्यक्तिवाचक मानने में बहुत से सन्देह उठते हैं। क्यों न 'शम्बर' ऐसी शक्ति या प्रवृत्ति मानी जाय जो मनुष्य के सुख में बाधक है।

भारद्वाजेषु (ऋ० १ । ५६ । ७)

सा०—*पुष्टिकरहविर्लक्षणान्नवत्सु यागेषु यद्वा एतत्संज्ञेषु ऋषिषु।* (पुष्टिकारक हवि वाले यागों में या इस नाम के ऋषियों में)

द०—*ये भरन्ति ते भरतः। वज्यन्ते ज्ञायन्ते यैस्ते वाजाः। भरतश्च ते वाजाश्च तेषु पृथिव्यादिषु। भरणाद् भारद्वाजः।* (निरु० ३।१३)

पृथिवी आदि जो अन्न द्वारा पालन करते हैं।

गोतमासः (ऋ० १ । ६० । ५)

सा०—*गोतमगोत्रोत्पन्नाः।* (गोतम ऋषि के गोत्र वाले)

द०—*ये अतिशयेन गावो वेदाहार्थानां स्तोतारश्च ते।* (गौरिति स्तोतृना०—निघंटु ३ । १६)[1]

---

[1] देखा १ । ८५ । ११ भी।

एतशम् (१ । ६१ । १५)

सा०—*एतत्संज्ञकं* ऋषिम् । (इस नाम का ऋषि)

द०—*अश्वम् । एतश इति अश्वनाम ।* (निघंटु १।१४) (घोड़ा)

नोधाः (१ । ६२ । १३)

सा०—ऋषिः ।

द०—*स्तोता । 'नुमोधुट् च' ।* (उणादिः ४।२२३)

सुदासे (१ । ६३ । ५३)

सा०—*एतत्संज्ञाय राज्ञे ।* (राजा का नाम)

द०—*शोभना दासा दानकर्तारो यस्मिन् देशे तस्मिन् ।*

दयानन्द ने 'दास' का अर्थ दान दाता किया है । संभव है कालान्तर में 'दास' शब्द गुलाम के लिये रूढ़ि हो गया हो जिसको दान में देते या बेच देते हों ।

रहूगणः (१ । ७८ । ५)

सा०—*रहूगणस्य पुत्रा वयं गोतमाः ।*

द०—*रहवो अधर्मत्यागिनोगणाः सेविताः यैस्ते ।* (अधर्म से बचने वालों का नाम रहूगण है)

अथर्वा (१ । ८० । १६)

सा०—*एतत्संज्ञकः* ऋषिः ।

द०—*हिंसादि दोषरहितः ।*

दधीचः (१ । ८४ । १३)

सा०—*एतत्संज्ञकस्य ऋषेः।* (ऋषि का नाम)

द०—*ये दधीन् वाय्वादीन् अंचन्ति तान्।* (जो वायु आदि का सेवन करें वे लोग)

उरुक्रमः (१ । ९० । ६)

सा०—*उरुविस्तीर्णं क्रामति पादौ विक्षिपति इति उरुक्रमः। विष्णुर्हि वामनावतारे पृथिव्यादीन् लोकान् पदत्रयरूपेण आक्रान्तवान्।* (जो दो पैरों को ऊपर को चलावे, उसे 'उरुक्रम' कहते हैं। विष्णु ने वामन अवतार रखकर तीन पगों में पृथिवी आदि लोकों को नाप लिया था। इसलिये विष्णु को 'उरुक्रम' कहा)

द०—*बहवः क्रमाः पराक्रमा यस्य सः।* (बहुत पराक्रमशील पुरुष को 'उरुक्रम' कहते हैं।)

सायण का आधार पुराण है। इसमें वेदों की नित्यता खण्डित होती है।

अम्बरीषः (१ । १०० । १७)

सा०—*राजर्षिः।* (ऋषि का नाम)

द०—*शब्दविद्यावत्। अत्रशब्दार्थात् 'अबि' धातोः औणादिकः ईषन् प्रत्ययो रुगागमश्च।* (विद्वान्)

गन्धारीणाम् (१ । १२६ । ७)

सा०—*(१) गन्धाराः देशाः। तेषां, तद्देशस्थाः।* (गन्धार देश वाले)

(२) *गर्भधारिणीनां स्त्रीणाम्।* (गर्भवती स्त्रियों का)

द०—*यथा पृथिवी राज्यधात्रीणां मध्ये।* (पृथिवी या राज्य धारण करने वाली देवियाँ)

भृगवः (१ । १४३ । ४)

सा० —(१) *भृगुगोत्रोत्पन्नाः* (भृगु गोत्र के)

(२) *पापस्य भर्जकाः।* (पाप को नष्ट करने वाले)

द०—*विद्यया अविद्याया भर्जका निवारका विद्वांसः।* (विद्या द्वारा अविद्या को निवारण करने वाले)

भरद्वाजाय (१ । ११६ । १८)

सा०—*संक्रियमाणहविर्लक्षणान्नाय यजमानाय 'भृत्र भरणे'। कर्मणि शतृप्रत्ययः।* (यजमान जो हवि रूपी अन्न का सेवन करते हैं)

द०—*भरन्तः पुष्यन्तः पुष्टिमन्तो वाजा वेगवन्तो योद्धारो यस्य तस्मै।* (योद्धा लोग जो अन्न का सम्पादन करते हैं)

यहां सायण ने भी ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया।

गोतम (१ । १८३ । ५)

सा०—*महर्षिनाम।*

द०—*मेधावी।*

नासत्या (६ । ४६ । ५)

सा०—(१) *सत्यस्वभावौ, सत्यस्यनेतारौ।* (न + अ + सत्या) (सच्चे)

(२) नासिका-प्रभवौ अश्विनौ। (नाक से पैदा हुये अश्विनीकुमार)

द०—अविद्यमानासत्यौ। (सच्चे)

नाक से उत्पन्न होना पौराणिक गाथा है।

भारती (७ । २ । ८)

सा०—भरतस्य आदित्यस्य पत्नी।

द०—सद्यः शास्त्राणि धृत्वा सर्वस्य पालिका वागिव विदुषी।

इला (७ । २ । ८)

सा०—इला।

द०—स्तोतुमर्हा।

मनुना (७ । २ । ३)

सा०—पूर्वं मनुना प्रजापतिना।

द०—मननशीलेन विदुषा।

पणीन् (७ । ६ । ३)

सा०—पणिनामकान् वार्धुषिकान् (usurers)

द०—व्यवहारिणः।

नहुषः (७ । ६ । ५)

सा०—नहुषः राज्ञः

द०—सत्येबद्धः।

√नह् (to tie, bind etc., cl. IV, A.P. (नह्यति, नह्यते) (Monier M. Williams' Dictionary)

कौशिक (१ । १० । ११)

सा०—*कुशिकस्यपुत्र इन्द्र । यद्यपि विश्वामित्रः कुशिकस्य पुत्रः तथापि तद्रूपेण इन्द्रस्यैव उत्पन्नत्वात् कुशिक-पुत्रत्वं अविरुद्धम् । अयं वृतान्तः अनुक्रमणिकायां उक्तः 'कुशिकस्त्वैषीरथिरिन्द्रतुल्यं पुत्रमिच्छन् ब्रह्मचर्यं चचार तस्येन्द्र एव गाधीपुत्रो जज्ञे ।'* (अनु० क्र० अ० सं० ३।१, अर्थात् कुशिक ने चाहा कि इन्द्र जैसा मेरा पुत्र हो । उसने इसलिये ब्रह्मचर्य रक्खा । तब इन्द्र ने स्वयं गाधी पुत्र के रूप में जन्म लिया । इसलिये विश्वामित्र को भी कौशिक कहते हैं और इन्द्र को भी)

द०—*सर्वासां विद्यानां उपदेशे प्रकाशे च भवस्तत् संबुद्धौ* (निरुक्त २।२५)

यदि वेद नित्य हैं और कुशिक से भी पूर्व थे, तो यह हो ही नहीं सकता कि वेद में दिये हुये 'कौशिक' शब्द का वह अर्थ हो जो अनुक्रमणिका में दिया है । किसी व्यक्ति विशेष का नाम रक्खा जाने के पूर्व भी 'कुशिक' शब्द का अर्थ रहा होगा । अतः स्वामी दयानन्द का दिया अर्थ अधिक सुसंगत है ।[२]

---

[२] देखो ३-४२-६ भी

स्वाहा (१ । १३ । १२)

सा०—*स्वाहा शब्दो हविष्प्रदानवाची सन् एतन्नामकं अग्निविशेषं लक्षयति ।*

द०—*या सत् क्रिया समूहास्ति तया ।*

वनस्पते (१ । १३ । ११)

सा०—*एतन्नामकाग्ने ।*

द०—*यो वनानावृक्षौषधादिसमूहानामधिकवृष्टिहेतुत्वेन पालयितास्ति सः ।*

यहाँ सायण ने 'स्वाहा' और 'वनस्पति' दोनों को 'अग्नि' के नाम बताया है । क्योंकि सायण पर यज्ञ सम्बन्धी कल्पित परिभाषाओं का प्रभाव है । स्वामी दयानन्द पर नहीं ।

कक्षीवन्तम् (१ । १८ । १)

सा०—*एतन्नामकं ऋषिम् । यः कक्षीवान् ऋषिः, औशिजः उशिजपुत्रः । कक्षेभवा कक्ष्या अश्वोदरसंम्बन्धिनी रज्जुः ।*

द०—*यः कक्षासु करांगुलिक्रियासु भवाः शिल्प विद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम् । कक्षा इति अंगुलिनामसु पठितम् ।* (निघंटु २।५)

सायण ने वेद की नित्यता पर ध्यान न देकर किसी विशेष मनुष्य 'कक्षीवान्' से इसका सम्बन्ध जोड़ दिया । स्वामी दयानन्द ने 'कक्षीवान्' का अर्थ बताया है 'शिल्पविद्या कुशल आदमी, जो हाथ के काम (manual labour) को श्रेष्ठ समझता हो' ।

भारतीम् (१ । २२ । १०)

सा०—*भरतनामकस्य आदित्यस्य पत्नीम् । 'भरत आदित्यः'* (निरु० ८।१३) *इति । यास्केन उक्तत्वात् तस्य पत्नी भारती इत्युच्यते ।*

द०—*यो यया शुभैर्गुणैर्बिभर्त्ति पृथिव्यादिस्थान् प्राणिनः स भरतः तस्येमां माम् । भरत आदित्यस्तस्य भा इला ।* (निरु० ८।१४)

यहाँ सायण ने आदित्य की पत्नी का नाम 'भारती' बताया । यह पत्नी है कौन ? देवतावाद में हर देवता की पत्नी बताई गई है । स्वामी दयानन्द ने 'तस्य इमाम् भारतीम्' कहकर बता दिया कि भरत या सूर्य का जो पालन करने का गुण है वही गुण 'भारती' कहलाता है । ऋग्वेद १।२२।१२ में इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी की भी इसी प्रकार से व्याख्या की गई है । लौकिक हिन्दी में भी 'चांदनी' शब्द चांद के प्रकाश के लिये आता है । चांद की स्त्री का नाम 'चांदनी' नहीं है ।

शुनः शेपः (१ । २४ । १२)

सा०—*शुनः शेपः, एतन्नामको जनः । शुनः इव शेपो यस्य इति समासे 'शुनः शेप' पुच्छलाङ्गूलेषु संज्ञाया षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः ।* (पाणि० सू० ६।३।२१) *इति अलुक् ।*

कुत्ते की सी शेप या प्रजनन इन्द्रिय हो जिसकी उसको शुनः शेप कहते हैं । यह एक आदमी का नाम है । शुनः शेप की कहानी भी प्रसिद्ध है । इस कथा से वेद का गौरव गिर जाता है ।

दयानन्द का अर्थ इससे उल्टा है—

शुनो विज्ञानवत इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः। श्वा शुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। (निरु० ३।१८) शेपः शपतेः स्पृशति कर्मणः। (निरु० ३।२१)

सायण ने १०।१०२।८ का भाष्य करते हुये 'शुनम्' का अर्थ सुख किया है। 'सुखं यथा भवति तथा'।

पुरूरवसे (१ । ३१ । ४)

सा०—*एतन्नामकस्य राज्ञो अनुग्रहार्थम् पुरुरौति पुरुरवा। 'रु शब्दे' अस्माद् औणादिके असुनि 'पुरसि च पुरुरवाः' (उ० सू० ४।६७१) इति पूर्वपदस्य दीर्घो निपात्यते।*

द०—*पुरवो बहवो रवा शब्दा यस्य विदुषस्तस्मै।*

दोनों आचार्यों की व्युत्पत्तियां समान हैं। परन्तु सायण ने व्युत्पत्ति की उपेक्षा करके 'पुरुरवा' राजा का अर्थ लिया है और स्वामी दयानन्द ने इसका अर्थ किया है 'विद्वान् जो शब्द ज्ञान रखता है'।

नहुषस्य (१ । ३१ । ११)

स०—*एतन्नामक राजविशेषस्य। 'णह बन्धने' 'नहिकलि, हन्यर्ति लसिभ्य उषच्' (उ० सू० ४।५१५)*

द०—*मनुष्यस्य नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्। (निघं० २।३)*

इलाम् (१ । ३१ । ११, १ । ४० । ४)

सा०—*एतन्नामधेयां पुत्रीम् ।*

द०—*वेदचतुष्टयीं वाचम् । इलेति वाङ्नामसुपठितम् ।*

(निघं० १।११)

सायण ने 'नहुष' और 'इला' की प्रचलित कहानियों का आधार लिया है, जो सायण के ही वेद सम्बन्धी सिद्धान्त का विरोधी है। स्वामी दयानन्द ने कोष के अनुकूल अर्थ किये हैं।

तुर्वशे (१ । ३६ । १८)

सा०—*एतन्नामकं राजर्षिम् ।*

द०—*तुरा शीघ्रतया परपदार्थान् वष्टि काङ्क्षति सः ।*

सायण ने कहानी का आधार लिया है। तुर्वश कोई ऋषि था। स्वामी दयानन्द ने व्युत्पत्ति के अनुसार 'लालची' अर्थ लिया है। 'ऐसा मनुष्य जो दूसरों के धन को देखकर लेने के लिये ललचाने लगे'।

कण्वाः (१ । ३७ । १)

सा०—*कण्वगोत्रोत्पन्ना महर्षयः । यद्वा मेधाविना ऋत्विजः ।*

द०—*मेधाविनः ।*

सायण ने महर्षि विशेष का नाम गाथा के आधार पर दे दिया। स्वामी दयानन्द के अर्थ में तरलता है, जो वैदिक शब्दों में होनी चाहिये। जब सायण को 'मेधावी' यह तरल अर्थ ज्ञात था तो महर्षि का नाम देकर शब्द को रूढ़ि बना डालने की क्या आवश्यकता थी!

नमुचिम् (१ । ५३ । ७)

सा०—*अनया संज्ञया प्रसिद्धं असुरम्। इन्द्रेणसह युद्धं न मुञ्चतीति नमुचिः।*

द०—*न विद्यते मुचिर्मोक्षणं यस्य तम्।*

यहाँ भी सायण का आधार कल्पित गाथा है। 'नमुचि' कौन असुर है जो लाखों वर्षों से इन्द्र के साथ युद्ध करता है और अभी मरा नहीं। दयानन्द स्वामी के अनुसार 'नमुचिः' वह पापी है जो मोक्ष से दूर है। हर समय और हर देश में ऐसे 'नमुचि' विद्यमान हैं।

शम्बरम् (१ । ५४ । ४)

सा०—*एतत् संज्ञकं असुरम्।*

द०—*शं सुखं वृणोति येन तं मेघमिवशत्रुम्।*

दधिक्राम् (१० । १०१ । १, ३ । २० । १)

सा०—*एतन्नामिकां देवताम्।*

इस नाम की देवता (कौन सी देवता है? अनिश्चित)। इसका यौगिक अर्थ होना चाहिये था।

त्रितम् (२ । ३४ । १०)

सा०—*ऋषिम्।*

द०—*हिंसकम्।*

जमदग्निना (३ । ६२ । १८)

सा०—*एतन्नामकेन महर्षिणा।* (महर्षि का नाम)

द०—चक्षुषा, प्रत्यक्षेण ।

जमदग्नि आंख को कहते हैं ।

अगस्त्य (१ । १७० । ३)

सा०—अगस्त्य (ऋषेः)

द०—अगस्तौ विज्ञाने साधो ।

(७ । ३३ । १०)

द०—अस्तदोषः ।

पुरुकुत्साय (१ । १७४ । २)

सा०—एतन्नाम्ने राज्ञे ।

द०—पुरवो बहवः कुत्सा वज्राः किरणा यस्मिन् ।

त्र्यरुणः (५ । २७ । १)

सा०—एतन्नामा राजर्षिः ।

द०—त्रयोऽरुणा गुणा यस्य सः ।

त्रसदस्युः (५ । २७ । ३)

सा०—त्रसदस्युः (राजा)

द०—त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात्सः ।

अश्वमेधाय (५ । २७ । ४)

सा०—राजर्षये ।

द०—आशुपवित्राय ।

तुर्वश (७ । १८ । ६)

सा०—*तुर्वशो नाम राजासीत्।*

द०—*सद्यो वशङ्करः।*

कवशम् (७ । १८ । १२)

सा०—*कवशम्* (proper name)

द०—*उपदेशकम्।*

तृत्सवे (७ । १८ । १३)

सा०—*तृत्सुनामकाय राज्ञे।*

द०—*हिंसकाय।*

भेदस्य[3] (७ । १८ । १८)

सा०—*(१) भिनत्ति मर्यादा इति भेदो नास्तिकः तस्य।*
(२) यद्वा भेदो नाम सुदासः शत्रुः कश्चित्।

द०—*विदारणस्य द्वैधीभावस्य।*

पराशरः (७ । १८ । २१)

सा०—*पराशरः* (व्यक्ति विशेष)

---

[3] सायण ने 'भेद' दो ऐतिहासिक व्यक्तियों का नाम दिया है। यह कैसे पता चले कि वेद मंत्र का 'भेद' किस ऐतिहासिक घटना से सम्बन्ध रखता है। वेद मंत्र के पूर्वापर शब्दों से तो पता चलता नहीं। इससे भी सिद्ध होता है कि वेद मंत्रों पर इतिहास का आरोपण कल्पना मात्र ही है। यों तो नये से नये उपन्यासों की कल्पित कहानियों में वेद मंत्र जड़ दिये जा सकते हैं परन्तु इससे वेद का तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा।

द०—*दुष्टानां हिंसकः ।*

वसिष्ठः (७ । १८ । २१)

सा०—*वसिष्ठः (ऋषिः)*

द०—*अतिशयेन वसु ।*

युध्यामधिम् (७ । १८ । २४)

सा०—*युध्यामधिनामकं सपत्नम् ।*

द०—*यो युधि संग्रामे आमं रोगं दधाति तं शत्रुम् ।*

उर्वश्याः (७ । ३२ । ११)

सा०—*अप्सरसः ।*

द०—*विशेषविद्यायाः ।*

वैदिकी हिंसा

संस्कृत भाषा में एक वाक्य प्रचलित है—*वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति*। इसका अर्थ है कि जिस हिंसा का वेदों में विधान है वह हिंसा रूपी पाप की कोटि में नहीं आती। 'वैदिकी हिंसा' के कई अर्थ लिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी प्राणी को वैधानिक रीति से उसके अपराध के दंड के रूप में कुछ पीड़ा दी जाय तो वह पीड़ा होते हुये भी पाप नहीं है। राजा हत्यारे को मृत्यु दण्ड देता है। चोर को कारागार मिलता है। आततायियों को भिन्न-भिन्न दण्ड दिये जाते हैं। यह सब दण्ड पीड़ा रूप में ही होते हैं। किसी को शारीरिक पीड़ा के रूप में, किसी को सामाजिक बन्धन के रूप में और किसी को मानसिक क्लेश के रूप में। किसी को क्लेश पहुँचाना पाप है। परन्तु अपराध के दण्ड के रूप में जो क्लेश पहुँचाया जाय वह पाप नहीं पुण्य है। इसी नियम के अनुसार माता पिता तथा गुरु वर्ग भी अपने आधीन लड़के-लड़कियों को ताडना करते रहते हैं।

परन्तु 'वैदिकी हिंसा' का जो अर्थ हमने यहाँ दिया है वह

अन्य लोगों को स्वीकार नहीं है। 'वैदिकी हिंसा' का अर्थ लिया जाता है 'पशुओं को मारकर यागों के रूप में अग्नि में होम करना'। यज्ञ कर्म को श्रेष्ठतम कर्म कहा। और इस श्रेष्ठतम कर्म को ईश्वरोक्त या वेदोक्त समझकर उसके करने में ननु नच के लिये कोई स्थान नहीं छोड़ा गया। जो वेद में लिखा है उसे आप्त वचन समझकर चुपचाप करने लगो। यदि वेद में लिखा है कि गाय को मार कर आहुति देदो, तो देदो, तर्क मत करो। क्योंकि वेद की आज्ञा के सामने तर्क को कोई स्थान है ही नहीं। इसका नाम रखा 'वैदिकी हिंसा'। वेदों में इसके तीन विशेष रूप बताये गये। अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ और नृमेध यज्ञ। नृमेध और अश्वमेध यज्ञ तो आजकल सर्वथा बन्द हैं। अश्वमेध राजा लोग करते थे। आजकल कोई राजा उसका अधिकारी समझा नहीं जाता। 'नृमेध' के लिये राजकीय नियम बाधक है। कभी-कभी भ्रान्ति में फंसे हुये लोग स्त्रियों को बहका कर उनसे बालहत्या करा बैठते हैं। परन्तु पता चलने पर राजा की ओर से घोर दंड दिया जाता है। मुसल्मान गाय की कुर्बानी करते हैं। वह भी एक प्रकार का गोमेध यज्ञ ही है। परन्तु हिन्दुओं की भावनायें गौ के प्रति इतनी पवित्र हैं कि किसी कर्मकाण्डी को गोमेध करने का साहस नहीं होता। और यह प्रसिद्ध कर दिया गया है कि गोमेध, अश्वमेध और नृमेध सतयुग में विहित थे जब ऋषियों को यह अलौकिक सामर्थ्य था कि वह मरे हुये प्राणी को स्वर्ग पहुँचा देवें या फिर से जिला देवें। गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी

या चारवाक के समय में यह यज्ञ प्रचलित प्रतीत होते हैं। उस समय '*वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति*' की कहावत का प्रचार बहुत था और तभी चारवाकों ने निम्न श्लोक बनाया था—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते।

(चारवाकोक्ति)

यदि पशु यज्ञ में मारा जाकर स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने माता पिता को मारकर स्वर्ग क्यों नहीं पहुचा देता। गाय, अश्व और मनुष्य को छोड़कर बकरी, भेंड़, भैंसा, सुअर, मुर्गी आदि की बलि तो हिन्दू देवी-देवताओं के लिये अब भी दी जाती है। कलकत्ते की काली माई, विन्ध्याचल की देवी राजस्थान तथा नैपाल के देवताओं को बकरी और भैंसे की बलि देने के दृष्टान्त अब भी मिलते हैं और इसको 'वैदिकी हिंसा' की कोटि में गिना जाता है।

क्या वेदों में इस प्रकार की हिंसा विहित है ? इस अध्याय में हम इस प्रश्न की मीमांसा करना चाहते हैं। इस विषय की हमारी वर्तमान पुस्तक के विषय से संगति इस प्रकार है कि सायण-भाष्य और दयानन्द-भाष्य में तद्विषयक दृष्टिकोण बहुधा भिन्न हैं। परन्तु सर्वथा भिन्न नहीं। स्वामी दयानन्द के समान सायण भी तो वैदिक संस्कृति की परम्परा के अनुगामी तथा प्रशंसक और पोषक थे। अतः लोक और परमार्थ दोनों की दृष्टि से इस प्रकार की मीमांसा वाञ्छनीय है।

पहले हम अश्वमेध को लेते हैं।

जब हम ऋग्वेद को उठाते हैं तो सब से पहली विचित्र बात यह सामने आती है कि यद्यपि ऋग्वेद में 'अश्वमेध' शब्द अपने तद्धित रूप 'आश्वमेध' के साथ पाँच बार आया है, परन्तु 'अश्वमेध' के साथ 'यज्ञ' शब्द नहीं आया। 'अश्वमेध' और 'अश्वमेध यज्ञ' में भेद है। 'अश्वमेध' के साथ 'यज्ञ' शब्द कब जुड़ा, कैसे जुड़ा और किस अर्थ में जुड़ा यह विचारने की बात है।

अश्वमेध शब्द वाले कुल तीन मंत्र हैं:—

(१) यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
ददहचा सनिं यते ददन् मेधामृता यते। (ऋग्वेद ५।२७।४)

(२) यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः।
अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः॥ (ऋ० ५।२७।५)

(३) इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्।
क्षत्रं धारयतं बृहद् दिवि सूर्यमिवाजरम्॥ (ऋ० ५।२७।६)

(४) ऋज्राविन्द्रोत आ ददे हरी ऋक्षस्य सूनवि।
आश्वमेधस्य रोहिता। (ऋ० ८।६८।१५)

(५) सुरथाँ आतिथिग्वे स्वभीशूँरार्क्षे।
आश्वमेधे सुपेशसः॥ (ऋ० ८।६८।१६)

अब इन शब्दों के अर्थों पर विचार कीजिये। पहले हम सायणाचार्य और उनके अनुयायियों के अर्थों को उद्धृत करते हैं—

(१) अश्वमेधाय (५।२७।४) अश्वमेधाय राजर्षये।

(२) अश्वमेधस्य (५।२७।५) अश्वमेधेने दानाः दत्ताः ।

(३) अश्वमेधे (५।२७।६) तस्मिन् राजर्षौ ।

(४) आश्वमेधस्य (८।६८।१५) अश्वमेधपुत्रे राजनि ।

(५) आश्वमेधे (८।६८।१६) अश्वमेधपुत्रे ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट सिद्ध है कि सायणाचार्य के मत में 'अश्वमेध' एक राजर्षि का नाम है और उसके पुत्र को अपत्य-वाचक संज्ञा बनाकर 'आश्वमेध' नाम दिया। इससे एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस काल में सायण ने ऋग्वेद का भाष्य किया या कराया, उस काल में 'अश्वमेध' और 'आश्वमेध' कोई ऐतिहासिक पुरुष सुने जाते थे ।

अंग्रेजी अनुवादकों की ओर भी ध्यान दीजिये।

ग्रिफिथ महोदय लिखते हैं :—

(१) To *Ashwamedha* to the Prince. (V. 27-4)

(२) The gifts of *Ashwamedha*. (V. 27-5)

(३) To *Ashwamedhe* who bestows a hundred gifts. (V.27-6)

(४) From Ashwamedha's Son. (VIII, 68-15)

(५) From Ashwamedha.

विलसन महोदय लिखते हैं—

(१) When Ashwamedha gives to him (V. 27-4)

(२) The offering of Ashwamedha. (V. 27-5)

(३) The munificent Ashwamedha. (V. 27-2)

(४) } From the Son of Ashwamedha.

(५) } ,,

(VIII-68-15, 16)

श्री रामगोविन्द त्रिपाठी ने अभी थोड़े दिन हुये 'ऋग्वेद' का हिन्दी अनुवाद किया है जो इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से छपा है। इसमें भी उन्होंने पहले तीन मंत्रों (ऋग्वेद ५।२७।४-६) में 'अश्वमेध ऋषि' और शेष दो मंत्रों (ऋग्वेद ८।६८।१५,१६) में 'अश्वमेध के पुत्र' ऐसा अर्थ किया है।

यह सब सायणाचार्य का अनुकरण करते हैं, यदि 'अश्वमेध' का 'घोड़े की बलि वाले यज्ञ' से तात्पर्य लिया जाता तो मंत्रों का अर्थ किसी प्रकार भी न बन सकता। यह भी एक प्रबल युक्ति है यह मानने की कि ऋग्वेद में उस 'अश्वमेध यज्ञ' का उल्लेख नहीं जो वर्त्तमान वायुमण्डल में प्रचलित हो रहा है।

ऋषि दयानन्द यह मानते हैं कि वेदों में राजर्षियों का इतिहास बताना वेदों के ईश्वरकृत या अपौरुषेय होने में संगति नहीं खाता। अतः उन्होंने इन शब्दों के यौगिक अर्थ किये हैं। 'मेधा' बुद्धि को कहते हैं। 'अश्व' आशु शब्द से सम्बन्धित है। अतः तीव्र बुद्धि वाले पुरुष का नाम 'अश्वमेध' या 'आश्वमेध' हो सकता है और वेद-मंत्रों के अर्थ करने में प्रसङ्ग-हानि भी नहीं होती। ऋषि दयानन्द यहाँ (पांचवें मंडल के तीन मंत्रों में) अश्वमेध यज्ञ की गंध भी नहीं देखते। उन्होंने 'अश्वमेधाय' का अर्थ 'आशु पवित्राय' किया है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट है। 'मेध' शब्द का अर्थ प्रायः होम में काट कर बलि देने का लिया जाता है। परन्तु यहाँ पहले ही मंत्र में 'मेधां' शब्द पड़ा है। यदि मान लिया जाय कि किसी ऋषि का नाम 'अश्वमेध' था तो उसको यह नाम देने वाले माता-पिता ने 'मेध' शब्द को इस हिंसा सूचक अर्थ में न लिया होगा। क्योंकि इस मंत्र में सायण ने 'मेधां' का अर्थ किया है '(मेधां) यज्ञविषयाँ प्रज्ञाम् (ददत्) देहि'। 'मेधां' शब्द का अर्थ 'बुद्धि' या 'प्रज्ञा' तो प्रसिद्ध ही है। 'मेधावी' का अर्थ है 'बुद्धिमान'।[1]

अब रहा 'अश्व' शब्द'। इसके संस्कृत में बहुत से अर्थ हैं। यदि 'अश्वमेध' नाम का कोई ऋषि कभी हुआ हो जिसको ध्यान में रखकर सायण ने 'अश्वमेध' ऋषि का नाम बताया तो शायद यहाँ 'अश्व' का अर्थ घोड़ा और 'अश्वमेध' का अर्थ 'घोड़े की सी बुद्धि वाला' न रहा होगा। क्योंकि पशु कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो वह मनुष्यों के लिये आदर्श नहीं हो सकता। इसलिये 'अश्व' का अर्थ कुछ और ही लेना पड़ेगा। स्वामी दयानन्द ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर 'अश्व' का अर्थ राष्ट्र किया है। उसी अधार पर दयानन्द ने 'अश्व' का अर्थ 'ईश्वर' किया है—

'अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सोऽश्व ईश्वरः।'

[1] देखो यजुर्वेद ३२।१४

अश्व का अर्थ है 'व्यापक'[२]। अतः 'ईश्वर' को भी 'अश्व' कहते हैं।[३] पाठकों को शायद यह सुनकर आश्चर्य हो कि अश्व का अर्थ 'ईश्वर' कैसे हो गया। परन्तु यौगिक अर्थ तो लिये ही इस प्रकार जाते हैं। 'वराह' सुअर को कहते हैं, परन्तु सायण ने 'वराह' का अर्थ 'वराहार' किया है।

'वराहम्। वरमुदकमाहारोयस्य। यद्वा। वरमाहरतीति वराहारः सन् पृषोदरादित्वात् वराह इत्युच्यते। अत्र निरुक्त—वराहो मेघो भवति वराहारः। वरमाहारमाहार्षीः इति च ब्राह्मणम्। (निरु० ५, ४) *इति। यज्ञे पक्षे तु* **वरं च तदहो वराहः।** *'राजाहः सखिभ्यः'* (पा० सू० ५।४।६१) *इति समासान्तः टच् प्रत्ययः'*।[४]

यहाँ सायण ने 'वराह' के निरुक्त तथा पाणिनि के आधार पर कई अर्थ किये हैं। पानी को लेने वाला 'मेघ' 'वराह' है। 'अच्छा आहार' जिसका हो वह 'वराह' है। और यज्ञ पक्ष में 'शुभ दिन' को 'वराह' कहते हैं (वर+अहन्)। अति प्राचीन शब्दों के प्राचीन अर्थ साधारण जनता को विचित्र इसलिये प्रतीत होते हैं कि वह उन परिवर्तनों को नहीं जानते जो कालान्तर में

---

[२] सायण ने 'अश्वेन वाजिना' का अर्थ किया है 'शीघ्र व्यापकेनाश्वेन सह'। (ऋ० १।१६२।३)

यहाँ 'अश्व' का अर्थ व्यापक है। घोड़ा व्यापक कैसे होता है इस की व्याख्या नहीं की गई।

[३] देखो ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका, शंकासमाधान प्रकरण

[४] ऋग्वेद, सायण भाष्य १।६१।७

शब्दों में हो जाया करते हैं। सम्भव है कि इसी प्रकार के शब्दार्थों के हेर-फेर के कारण पौराणिक वाराहावतार की कथा गढ़ ली गई हो।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि सायण ने अश्वमेध यज्ञ के विषय में सुना या पढ़ा ही न था। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, आश्वलायन आदि गृह्य सूत्रों, शतपथ आदि ब्राह्मणों में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन कई रूपों से मिलता है। रूप भी भिन्न-भिन्न है। विधियां भी भिन्न-भिन्न हैं और उन विधियों के आधार रूप गाथायें भी भिन्न-भिन्न हैं। कहीं-कहीं तो अप्राकृतिकता और अश्लीलता ने घोर रूप धारण कर लिया है, जैसे महीधर कृत यजुर्वेद भाष्य में देखो यजुर्वेद-भाष्य, अध्याय २३, मन्त्र १९ आदि इनके विषय में ग्रिफिथ को लिखना पड़ा कि यह मंत्र इतने अश्लील हैं कि मैं इनका अनुवाद अंगरेजी भाषा में कर ही नहीं सकता।

परन्तु सायण ने ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १६२ के मंत्रों को अश्वमेध यज्ञ से सम्बन्धित किया है। प्रायः बहुत से लोगों का विचार है कि ऋग्वेद के १।१६२ सूक्त में 'अश्वमेध' का वर्णन है। परन्तु यदि मंत्रों की अन्तःसाक्षी ली जाय तो किसी मंत्र से घोड़े के यज्ञ में मारने का विधान नहीं मिलता। अश्वमेघ शब्द तो समस्त सूक्त में है ही नहीं, 'अश्व' शब्द अवश्य है। और इस सूक्त का देवता 'अश्व' मानने में भी कल्पना से काम लिया गया गया है। सायण लिखते हैं—*'या तेनोच्यते सा देवता' इति न्यायेन*

अश्व देवता'। अर्थात् 'अश्व' की स्तुति होने के कारण इस सूक्त का देवता 'अश्व' है। 'अनुक्रमणिका' के आधार पर *'अश्वमेधस्य मध्यमेऽहनि अध्रिगु प्रैषे 'अध्रि गोशमीध्वम्', इति*। यह मान लिया कि समस्त सूक्त में अश्वमेध यज्ञ में घोड़ा मारने का उल्लेख है।

'त्रीणि सुत्यानि भवन्ति' इति *खण्डे सूत्रितम् 'अध्रिगो शमीध्व-मिति शिष्ट्वा षड्विंशतिरस्य वङ्क्रय इति वा मानो मित्र इत्यावपेत* (आश्वलायन श्रौ० सू० १०।८) *इति*।

अर्थात् वेद के मंत्रों में तो स्पष्ट विधि है नहीं, आश्वलायन श्रौत सूत्र आदि में विस्तार दिया है। उसी के साथ संगति बिठा-लने के लिये समस्त सूक्त का वैसा ही अर्थ किया गया।

सूक्त के पहले ही मन्त्र में लिखा है—

यद् वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि।

अर्थात् हम उस 'सप्तिः' के 'वीर्याणि' या पराक्रमों का वर्णन करेंगे जो अन्नवाला और देवजात है। यह 'वाजी' और 'देवजात' 'सप्ति' कौन है। 'सप्तिः'[५] का साधारण अर्थ घोड़ा है। परन्तु वस्तुतः 'सप्ति' का मौलिक अर्थ है सूर्य जिसकी सात किरणें हैं। किरणों को हाथ भी कहा है और घोड़ा भी, इसलिये यहाँ 'सप्ति' का अर्थ सूर्य क्यों न किया जाय ? यह वाजी अर्थात् अन्नवाला या अन्न का दाता तो है ही। देवजात भी है। सायण को भी 'देवजात' शब्द से कुछ स्मरण आ गया कि बृहदारण्यक

---

[५] सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः (ऋग्वेद ८।७२।१६)

उपनिषद् (१।१।३) में *'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः'* अर्थात् इस मेध्य अश्व का सिर 'उषा' है।

सायण लिखते हैं—

देवजातस्य बहुदेवता स्वरूपेणोत्पन्नस्य। उश आदीनां अस्य शिर आद्यवयवत्त्वात् इति भावः।

अर्थात् जो ऊपर दिया हुआ 'सप्तिः' है वह बहुत से देवताओं का स्वरूप मात्र उत्पन्न है, और उषा इसका *आदि-अवयव* हैं। 'आदि-अवयव' शब्द विचार के योग्य है। इससे सूर्य का ही वर्णन हो सकता है, अथवा दिन का। बृहदारण्यक के पहले ब्राह्मण का नाम 'अश्व ब्राह्मण' है। वहाँ दिया है *'अहर्वा अश्वं पुरस्तात् महिमाऽन्वजायत'*। 'महिमा' का अर्थ यज्ञ की परिभाषा में सोने का गृह या पात्र है। वस्तुतः दिन के पहले स्वर्णमय सूर्य निकलता है। इसी की ओर संकेत प्रतीत होता है। समुद्र को इस अश्व का योनि बताया है। इस ब्राह्मण में कल्पना से बहुत काम लिया गया है। सुरेश्वराचार्य कृत बृहदारण्यक वार्तिकसार के हिन्दी अनुवादक लिखते हैं *'समुद्र एवाऽस्ययोनिः'* में समुद्र परमात्मा का नाम है। *'समुत्पद्य भूतानि द्रवन्ति अस्मिन्', इति समुद्रः—परमात्मा।* सब भूतों की उत्पत्ति और नाश परमात्मा से होते हैं।[६]

ऋग्वेद १।१६२।१९ मन्त्र में 'ऋतु' को 'अश्व' का विशास्ता

६ देखो बृहदारण्यक वार्तिकसार—हिन्दी अनुवाद, अच्युत ग्रन्थमाला काशी पृ० ५६५।

कहा गया है। 'ऋतु' का अर्थ सायण ने 'कालात्मा' किया है। *'तस्यैव सर्वेषामपि पर्यवसितृत्वात्'*। इससे भी प्रतीत होता है कि यहाँ उस अश्वमेध यज्ञ से तात्पर्य नहीं है जिसका गाथाओं में वर्णन है।

उन लोगों के लिये जो लकीर के फकीर नहीं हैं और प्राचीन साहित्य की जटिल समस्याओं की खोज करना चाहते हैं हम एक संकेत करना चाहते हैं। हमारा कहना है कि अश्वमेध यज्ञ की प्रख्यात प्रणाली और प्राचीन साहित्य का एक दूसरे के साथ इतना गोलमाल हो गया कि शब्दों का अर्थ करने में भी कठिनता होती है। 'शस्त्र' शब्द 'शंस' धातु में बनाने से उसका अर्थ हो जाता है 'स्तोत्र'। और 'शस' धातु से बनाने में काटने का हथियार। इसी प्रकार 'शमीध्वम्' शम् धातु से निकलता है उसका मौलिक अर्थ था 'शान्त करना'। परन्तु पीछे से इसका अर्थ हो गया *'मारकर निर्जीव करना'*। इसी प्रकार 'बलि' का अर्थ है भोजन ('भृ' धातु से ?)। फिर इसका अर्थ हुआ 'राज्यकर' (लगान)। अब इसका अर्थ है 'मार कर पशु को देवता के लिये अर्पण करना'। इस प्रकार पूर्ण अन्वेषण की आवश्यकता है। परन्तु हमारे पास शंका करने के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि अश्वमेध यज्ञ घोड़ा मार कर बलि देने के अर्थ में यज्ञ-काल से प्रारम्भ होकर पीछे से विकृत रूप हो गया है और यह वैदिक कर्म नहीं है। यदि राष्ट्र के निर्माताओं ने अवसरोचित कोई पद्धति बनाई तो वह भी शुद्ध रूप में स्ववस्थित नहीं रही। शतपथ का १३ वां

काण्ड और यजुर्वेद के २२ से लेकर २७ अध्यायों तक नये दृष्टिकोण और गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तावित शैली ही वैदिक साहित्य को इस कलंक से बचा सकती है। परन्तु यह बात नहीं है कि सायण से इस शुभ कार्य में सहायता न मिले। शर्त यह है कि किसी आचार्य के पीछे आंख बन्द करके न लग जावें। उसके मौलिक सिद्धान्तों और कृतियों के आत्मा को समझकर स्वतन्त्रता से खोज करें।

अब हम *'गोमेध'* पर विचार करते हैं। पाठकगण को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि *चारों वेदों में 'गोमेध' शब्द कहीं नहीं है।* भारतीय संस्कृति का प्रत्येक पोषक मानता है कि गाय का मारना महापातक है। यह धारणा एक बलवती भावना बन गई है। फिर क्या कारण है कि 'गोमेध' नामी ऐसे यज्ञ का भी नाम सुना जाता है जिस को वैदिक आचार्य करते थे और जिनमें गाय मारी जाती थी।

इस संबन्ध में एक और शब्द विचारणीय है अर्थात् 'गोघ्न'। 'गोघ्न' का अर्थ किया जाता है 'अतिथि या महमान' (guest) जिसके लिये पहले गाय मारी जाया करती थी। इसके लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी (सूत्र ३।४।७३) का प्रमाण दिया जाता है। अर्थात् 'गोघ्न' नाम है अतिथि का जिसके सम्मान के लिये गाय मारी जावे। हमारा कहना यह है कि पाणिनि को यह व्युत्पत्ति उस समय करनी पड़ी जब संस्कृत साहित्य में 'गोघ्न' शब्द अतिथि के अर्थ में प्रचलित हो गया और गोघ्न शब्द

अतिथि के अर्थ में प्रचलित उस समय हुआ जब गौ मारने की प्रथा मधुपर्क या यज्ञ में अधिक प्रचलित हो गई। कुछ विद्वानों ने 'गोघ्न' शब्द में 'गो' शब्द और 'हन्' धातु के कई अन्य वैकल्पिक अर्थ देकर पाणिनि की व्युत्पत्ति की पुष्टि की है। हमारा ऐसा मत है कि यदि 'गोघ्न' शब्द वेदों में अतिथि के अर्थ में प्रयुक्त होता तो हमको ऐसा प्रयास करने की आवश्यकता होती, परन्तु जब वेद में 'गोघ्न' शब्द आया ही गो-हत्यारे के लिये है तो अन्यथा उसकी व्युत्पत्ति की आवश्यकता नहीं।

'गोघ्न' शब्द वेद में केवल एक ही स्थान पर आया है वह मन्त्र निम्न है—

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते अस्तु। मृला च नो अधि च ब्रूहि देवाधाः च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः।[७]

इस मंत्र में दो शब्द है 'गोघ्न' और 'पूरुषघ्नं'। अतः 'घ्न' या 'हन्' का अर्थ दोनों पदों में हिंसा ही लेना होगा। '*आरे गोघ्नं उत पूरुषघ्नं*' का अर्थ हुआ 'दूर रख हम से गाय के मारने वाले को और पुरुष ने मारने वाले को।' अर्थात् गोहत्या और पुरुष हत्या एक ही कोटि के पातक हैं। यदि 'गो' शब्द का विस्तृत 'पशु' अर्थ लिया जाय जैसा कि बहुधा प्रयोग में आता है और जो गो शब्द का यौगिक अर्थ है (*गच्छतीति गौः*) तो भी कोई हानि नहीं। क्योंकि वेद में किसी प्राणी की हिंसा विहित नहीं है।

हम यहाँ इस वेद मंत्र के अर्थ स्वामी दयानन्द तथा आचार्य

---

७ ऋग्वेद मंडल १, सूक्त ११४, मंत्र १०।

सायण के किये हुये अलग-अलग देते हैं।

दयानन्द—(आरे) समीपे दूरे च (ते) तवसकाशात् (गोघ्नम्) गवां हन्तारं (उत) (पूरुषघ्नं) पुरुषाणां हन्तारम् (क्षयद्वीर) शूरवीरनिवासक (सुम्नम्) सुखं (अस्मे) अस्मभ्यम् (ते) तुभ्यम् (अस्तु) भवतु। (मृल) मृलय अत्रान्तर्भावितोणयर्थः। द्वयोचऽतस्तिङ इति दीर्घश्च। (च) (नः) अस्मान् (अधि) आधिक्ये (च) (ब्रूहि) आज्ञापय। (देव) दिव्यकर्मकारिन्। (अध) आनन्तर्ये। अत्र वर्णव्यत्ययेन यस्य घो निपातस्य चेति दीर्घश्च। (च) (नः) (शर्म) गृहसुखम्। (यच्छ) देहि। (द्विबर्हाः) द्वयोर्व्यवहार परमार्थयोर्वर्धकः।

सायण—हे क्षयद्वीर क्षयितसर्वशत्रुजन रुद्र ते त्वदीयं गोघ्नं यत् गोहननं यद्वा गोहननसाधनमायुधं उत अपि च पुरुषघ्नं पुरुष हननं तत्साधनमायुधं वा तदुभयं आरे दूरे अस्मत्तो विप्रकृष्ट देशे भवतु। अस्मे अस्मासु ते त्वदीयं सुम्नं सुखं अस्तु भवतु। अपि च नो अस्माकं मृल सुखसिध्यर्थं प्रसन्नोभव। हे रुद्र देव द्योतमान रुद्र नोऽस्मान् अभिब्रूहि च अधिवचनं पक्षपातेन वचनं ब्राह्मणायाधि ब्रूयादिति यथा अधच अथानन्तरञ्च द्विबर्हाः द्वयोः स्थानयोः पृथिव्यां अन्तरिक्षे च परिवृढः यद्वा द्वयो दक्षिणोत्तरमार्गयोर्ज्ञान कर्मणोर्वा परि वृढः स्वामी स त्वं नो अस्मभ्यं शर्म सुखं यच्छ देहि।

इन दोनों भाष्यों को पढ़कर साधारणतया शब्दार्थों से कोई बड़ा भेद प्रतीत नहीं होता। परन्तु थोड़े से विचार से ज्ञात हो जाता है कि भावों और प्रभावों में बड़ा अन्तर है। स्वामी

दयानन्द सभापति (शासक राजा) को सम्बोधन करके कहते हैं कि हमारे समाज से गो-हिंसक और पुरुष-हिंसक को दूर रख। विनियोग के आधार पर सायणाचार्य कहते हैं कि हे रुद्र तू हम से अपने गौ को मारने वाले आयुध और पुरुष को *मारने वाले आयुध* को दूर रख। कितना अन्तर हो गया ? स्वामी दयानन्द का तात्पर्य है कि मनुष्य गो हत्यारे न बनें। सायण का अर्थ यह है कि मनुष्यों से केवल रुद्र का हथियार दूर रहे जिससे रुद्र गाय और पुरुष को मारा करता है। अर्थात् स्वामी दयानन्द के मत में मनुष्य गोहत्या और नरहत्या के पाप से दूर बचना चाहता है। सायण के मत में मनुष्य रुद्र के उस हथियार से बचना चाहता है जिससे रुद्र गायों और मनुष्यों को मारा करता है। सायण ने 'ते' शब्द का तेरा अर्थ करके उसको 'गोघ्नं' और 'पूरुषघ्नं' शब्द का सम्बन्धवाचक बना दिया। स्वामी दयानन्द ने 'ते' का अर्थ किया 'तव सकाशाद्' अर्थात् तेरे संसर्ग या संपर्क के कारण। यदि ईश्वर को भी सम्बोधित किया जाय तो स्वामी दयानन्द के मत में ईश्वर की उपासना से मनुष्य हत्या की प्रवृत्ति से दूर रहता है। सायण के मत में उपासक उपास्य की घातक प्रवृत्ति को स्वीकार करके उससे स्वयं अपने को बचाने की प्रार्थना करता है।

दयानन्द का उपासक कहता है 'हे प्रभु तेरा ध्यान करके मैं हत्या की भावनाओं से मुक्त हो जाऊँ और न पशु को मारूँ न मनुष्य को'।

सायण का उपासक कहता है, 'आप पशु और मनुष्य सभी को मारते हैं। मैं आपकी मार से डरता हूँ। कृपा करके आप मुझे बचा दीजिये।'

यह नमूना है दो प्रवृत्तियों का।

परन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि सायण को गोरक्षा अभीष्ट न थी या वह गोहत्या को वैदिकी हिंसा समझकर पातक की कोटि से बाहर समझते थे।

ऋग्वेद के छठवें मंडल का २८ वां सूक्त हम सायण के भाष्य सहित देते हैं जो गो-सत्कार का उत्तम रीति से वर्णन करता है—

१. आ गावो अगमन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः।

(गाः आ अग्मन्) अस्मदीयं गृहमागच्छन्तु। (उत् भद्रं अक्रन्) अपि च भजनीयं शुभं कुर्वन्तु। (गोष्ठे सीदन्तु) अस्मदीये गवां स्थाने उपविशन्तु। (अस्मे रणयन्तु) अस्मासु रमन्ताम्। (इह पुरुरूपाः प्रजावतीः) अस्मिन् गोष्ठे नानावर्णा गावः प्रजावत्यः संततिसहिताः (पूर्वीः उषसः दुहानाः) बह्वचः उषाकालान् प्रति दोग्ध्र्याः (इन्द्राय स्युः) इन्द्रार्थं भवेयुः।

भावानुवाद—गायें हमारे घर आवें। हमारा भला करें। हमारे गोशाला में रहें। हमारे मध्य में सुख अनुभव करें, इस गोशाला में भिन्न-भिन्न रंगों की गायें बच्चों सहित बहुत से उषा-कालों में यज्ञ के लिये दूध देने वाली होवें।

२. इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति ।
भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ।

(यज्वने) यजनशीलाय (इन्द्रो पृणते) । (च शिक्षति) स्तुतिभिः प्रीणयत्रे च स्तोत्रे अपेक्षितं धनं ददाति । न केवलं सकृदेव दानं अपि तु सर्वदैव इत्याह । (उपेद् ददाति) उपेत्य सर्वदा ददात्येव (न स्वं मुषायति) यज्वनः स्तोतुश्च स्वभूतं धनं कदाचिदपि नाप हरति । (अस्य रयिं भूयोभूयः वर्धयन् इत्) अपि च उभयविधस्य धनमात्मना दत्तं पुनः पुनः वृद्धिं प्रापयन्नेव (देवयुं) देवमिन्द्रमात्मनः इच्छन्तं ते जनम् (अभिन्ने खिल्ये) शत्रुभिरभेद्ये अन्यैर्गन्तुमशक्ये स्थले (नि दधाति) निक्षिपति निवासयति इत्यर्थः ।

भाषानुवाद—इन्द्र यज्ञ करने वाले को पूर्ण करते हैं । भरपूर धन देते हैं । सदैव । उसके धन का नाश नहीं होने देते । उसके धन को नित्य बढ़ाते हैं । और अपने भक्त को ऐसे स्थान में सुरक्षित रखते हैं जहाँ कोई शत्रु उसको सता नहीं सकता ।

३. न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति ।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ।

(ता न नशन्ति) गावः अस्मत्सकाशान्नश्यन्तु (तस्करः न दभाति) चोरोऽपि अस्मदीया गा न हिंस्यात् । (आमित्रः व्यथिः आसाम् न आ दधर्षति) अमित्रस्य शत्रोः सम्बन्धि शस्त्रम् इमाः गाः नाक्रामत । (गोपतिः याभिः देवाँश्च यजते) गवां स्वामी यजमानः गोभिः इन्द्रादीनुद्दिश्य यजनं करोति (ददाति च) या गा इन्द्रार्थं

प्रयच्छति (च ताभिः सह ज्योगित् सचते) *तादृशीभिः गोभिः चिरकालमेव सङ्गच्छताम्।*

भाषानुवाद—वे गायें नष्ट न हों। चोर न चुरावे। शत्रु का शस्त्र उनको न काटे। यजमान इनसे यज्ञ करे तथा वे चिरकाल तक उसको प्राप्त होवें।

(४) *न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि। उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य विचरन्ति यज्वनः।*

(रेणुककाटः अर्वा ताः न अश्नुते) *रेणुकस्य रेणोः पार्थिवस्य रजसः उद्भेदकः युद्धार्थं आगतोऽश्वः न प्राप्नुयात्।* (ताः गावः) (संस्कृतत्रं न अभि उपयन्ति) *विशसनादि संस्कारं नाभिगच्छन्तु* (ताः गावः यज्वनः तस्यमर्तस्य उरुगायं अभयं अनु विचरन्ति) *यागशीलस्य मनुष्यस्य विस्तीर्णगमनं भयवर्जितं प्रदेशं उद्दिश्य विशेषेण गच्छन्तु।*

भाषानुवाद—धूल उड़ाने वाले लड़ाई के घोड़े इन गायों पर आक्रमण न कर सकें। कोई उनको न काटे। यज्ञ करने वाले यजमान की गायें भयरहित प्रदेशों में सुरक्षित रहें।

(५) *गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः। इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्।*

(गावः भगः) *मह्यं धनं भवन्तु।* (इन्द्रः मे गावः अच्छान्) *मह्यं गाः यच्छतु।* (गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः) *हविषां श्रेष्टस्य भक्षणं भवन्तु।* (जनासः इमाः या गावः स इन्द्रः) *हे जनाः एवं*

भूताः ता एव गावः इन्द्रः भवन्ति दधिघृतादि रूपेण इन्द्रस्याप्यायनत्वात्। (इन्द्रं हृदा मनसाचित् इच्छामि) एवं भूतं इन्द्रं श्रद्धा युक्तेन मनसा कामय एव।

भाषानुवाद—गायें मेरा धन होवें। इन्द्र मुझे गायें दे। उनसे मुझे यज्ञ करने के लिये हवि मिले। हे लोगों गायें इन्द्र के लिये हवि अर्थात् दही-दूध देकर इन्द्र ही हो जाती हैं। मैं इन इन्द्र रूप गायों की श्रद्धा से कामना करता हूँ।

(६) यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु।

हे (गावः यूयं मेदयथ) स्नेहयथ। आप्यायनं कुरुथ इत्यर्थः तथा (कृशं चित् अश्रीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ) क्षीणमपि अश्लीलमपि शोभनाङ्गं कुरुथ। हे (भद्रवाचः गृहं भद्रं कृणुथ) कल्याणध्वन्युपेता गावः अस्मदीयं गृहं कल्याणं गोभिरुपेतं कुरुथ। (सभासु वः बृहत् वयः उच्यते) यागपरिषत्सु हे गावः युष्माकं महत् अन्नं सर्वैर्दीयत इत्यर्थः।

भाषानुवाद—हे गायों सन्तुष्ट रहो। क्षीण और कुरुप अङ्ग को सुन्दर बनाओ। घर को सुखी करो। यज्ञ की परिषदों में तुम्हारा अन्न ही सदा दिया जाता है।

(७) प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।

(प्रजावती सूयवसं रिशन्तीः) हे गावो यूयं प्रजावत्यो वत्साभियुक्ता भवतेति शेषः। शोभन तृणं रिशन्त्यो भक्षणार्थं हिंसन्त्यो

भवत। (सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्ती) सुखेन पातव्ये तटाकादौ निर्मलाः अपः उदकानि पिबन्त्यश्च भवत। (वः स्तेनः मा ईशत) युष्मान् तस्करः मेशिष्ट। ईश्वरो मा भूत्। तथापि (अघशंसः मा) व्याघ्रादिः शत्रुः मा ईशत। अपि च (वः रुद्रस्य हेतिः परि वृज्याः) युष्मान् कालात्मकस्य परमेश्वरस्य आयुधं च परि वृणक्तु न परिहरतु।

भाषानुवाद—हे गायों, बछड़ों के साथ अच्छी घास चरो। अच्छे घाटों पर शुद्ध जल पियो। चोर या व्याघ्र आदि तुम पर काबू न पावे। मौत का चक्र भी तुम पर न चले।

(८) उपेदमुपपर्चनमासु गोषुप पृच्यताम्। उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।

(आसु गोषु इदं उपपर्चनं उप पृच्यतां) आप्यायनं संपृच्यताम्। ते (इन्द्र तव वीर्ये) त्वदीयवीर्ये निमित्ते (ऋषभस्य) गवां गर्भमादधानस्य वृषभस्य (रेतसि उप) इदं उपपर्चनं आप्यायनं आप्यायताम्।

भाषानुवाद—हे इन्द्र! तुम्हारे यज्ञ के लिये इन गायों की संतुष्टि हो। और इन गायों को गर्भ धारण कराने वाले बैलों की भी।

यह सूक्त वैदिक संस्कृति की गो-सम्मान सम्बन्धी प्रवृत्ति को स्पष्टतया प्रकट करता है।

इसी प्रकार वेद में बहुत से मंत्र हैं जिनमें यज्ञों में गौओं का विधान है। परन्तु गाय मारने का नहीं। हम सायण-भाष्य से

कुछ उद्धरण देते हैं जहाँ गाय से तात्पर्य *गाय की उत्पन्न की हुई दूध-दही आदि* **वस्तुओं से है।**

गोभिः

(१ । १५१ । ८) *गोविकारैः पय आदिभिः*

(३ । ३५ । ८) *गोभिः पयोभिः*

(३ । ५० । ३) *गोमिश्रितैः सोमैः*

(४ । २७ । ५) *गव्येन पयसा*

(५ । ३ । २) *गोविकारैः क्षीरादिभिः*

(६ । ४७ । २६) *गोविकारैः चर्मभिः* (**सायण**)

(६ । ४७ । २७) *सुशिक्षिताभिः वाग्भिः* (**दयानन्द**)

(८ । २ । ३,६) *गवि भवैः क्षीरादिभिः*

(८ । ८२ । ५) *गोविकारैः क्षीरादिभिः*

(९ । २ । ४) *गोविकारैः पयोभिः*

(९ । ६ । ६) *गोभिः पयोभिः*

(९ । ८ । ५) *गोविकारैः पयोभिः*

(९ । १० । ३) *गोविकारैः पयोभिः*

(९ । १४ । ३) *गोविकारैः।* **विकारे प्रकृतिशब्दः,** (material for the thing made) *क्षीरादिभिः।*

(९ । ३२ । ३) *गव्यैः उदकैः वा*

(९ । ४३ । १) *वसतीवरीभिरद्भिः, गोविकारैः पयआदिभिर्वा*

(९।४५।३) गोविकारैः पयोभिः

(९।४६।४) गोविकारैः पयोभिः

(९।५०।५) गोविकारैः पयोभिः

(९।६१।१३) गोविकारैः पयोभिः

(९।६६।१३) गव्यैः दधिक्षीरादिभिः

(९।६८।९) गोविकारैः क्षीरदध्यादिभिः

(९।७४।८) गोभिः उदकैः

(९।८५।५) गोभिः पयोभिः

(९।९१।२) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।९६।२२) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।९७।४५) गोविकारैः क्षीरादिभिः श्रयणैः

(९।१०३।२) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।१०४।४) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।१०७।२) गोविकारैः क्षीरैः क्षीरादिभिः

(९।१०७।९) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।१०७।१८) गोविकारैः क्षीरादिभिः

(९।१०७।२२) गव्यैः क्षीरादिभिः

(९।१०९।१५) गोविकारैः

(९।१०९।१७) गोविकारैः क्षीरादिभिः

'गो' और उसके बने गावः, गाः, गोनाम्, गोभिः आदि शब्द वेदों में बहुतायत से आये हैं, कहीं पशु विशेष के अर्थ में, कहीं भूमि के अर्थ में, कहीं वाणी के अर्थ में और कहीं दूध दही के

अर्थ में, परन्तु गोमांस के अर्थ में नहीं। हमने यहाँ 'ऊपर' कुछ नमूने दिये हैं। हमारी धारणा है कि 'गोमेध यज्ञ' में गौ मार कर आहुति देने या गो भक्षण करने की प्रथा किसी भ्रांति, दुर्व्यसन आदि के कारण ही उस काल में आरम्भ हुई होगी जब वैदिक सभ्यता का ह्रास आरम्भ हो गया था। मध्यकाल अर्थात् आज से दो-ढाई हजार वर्ष पहले जब यज्ञ में पशु मारने की प्रथा चल पड़ी तो शायद गौ को अति पवित्र समझने के कारण ही इसको बध के लिये छांट लिया गया। यह गाय के लिये तो दुर्भाग्य था ही, गोभक्त आर्य जाति के लिये भी दुर्भाग्य का कारण सिद्ध हो गया। तभी तो हम मध्य-कालीन संस्कृत कवियों कालिदास, भवभूति और श्री हर्ष आदि के ग्रन्थों में 'गोमेध यज्ञ' की दुर्गन्ध के संकेत पाते हैं।[८]

---

[८] कालिदास :—

(१) पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।

(अभिज्ञान शाकुन्तलं ६। १)

(२) तुरंगमेध (रघुवंश १३। ६१)—अश्वमेध

(३) मंत्र पूतां तनुमप्यहौषीत् (रघुवंश १३। ४५)—अपने शरीर की आहुति देना।

श्री हर्ष :—

हिंसा गवीं मखे वीक्ष्य रिरंसुर्धावतिस्म सः।
सा तु सौम्यवृषा सक्ता खरं दूरान्निरास तम्॥

(नैषधीयं काव्यम् १७। १७७)

'मखे गोमेधाख्ये यज्ञे हिंसा गवीं हिंसासंबन्धिनीं गवीं वीक्ष्य रिरंसुः हृष्टचित्तः सः, 'निषिद्धगोहिंसा मत्प्रिया' इति धावतिस्म। सा तु हव्य-

अब 'नृमेध' शब्द पर विचार कीजिये। हम ऊपर बता चुके हैं कि 'गोमेध' शब्द तो ऋग्वेद तथा अन्य तीनों वेदों में कहीं भी नहीं मिलता।

माना गौः सौम्ये सोमदेवताकद्रव्य साध्ये वृषे धर्म आसक्ता तत्संबन्धिनी तत्साधिका सती........स्वरं........निरास निराचकार।........

अधर्मसाधनं गो हिंसादि दृष्ट्वा प्रवृत्तेः पश्चाद् धर्मसाधनमग्नीषोमीय वैदिक पशु हिंसादि दृष्ट्वा मत्प्रियाहिंसा न भवति इति दूरात्यक्तः। (नैषधीय प्रकाश)

नल की नगरी में गाय मारी जाती हुई देखकर पहले कलि को प्रसन्नता हुई कि नल की नगरी में पाप भी होता है (कलि को पापप्रिय है) परन्तु कलि ने देखा कि गाय गोमेध यज्ञ में मारी जा रही है। गोमेध में गाय मारना पाप नहीं पुण्य है। इस पुण्य को देखकर कलि खिन्न हो गया।

भवभूति :—

सौधातकि—हुँ वसिष्ठः ?

दण्डायन—अथ किम् ?

सौधातकि—मयापुनर्ज्ञातं व्याघ्रो वा वृको वैष इति।

दण्डायन—आ किमुक्तं भवति।

सौधातकि—येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणी मडमडायिता।

दण्डायन—समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमाना श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृहिमेधिनः। तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।

(उत्तरराम चरितम् चतुर्थ अंक)

सौधातकि नाम का चेला—अच्छा यह वसिष्ठ हैं ?

दण्डायन—और क्या ?

'नृमेध' केवल ऋग्वेद में दो स्थानों पर आया है। अन्य वेदों में नहीं।

(१) अग्निर्हत्यं जरतः कर्णमावाऽग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम्। अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत् सम्॥

(ऋ० १०। ८०। ३)

(२) युवं ह्यप्नराजावसीदतं तिष्ठद्रथं न धूर्षदं वनर्षदम्। ता नः कणूकयन्तीर्नृमेधस्तत्रे अंहसः सुमेधस्तत्रे अंहसः॥

(ऋ० १०। १३२। ७)

सायणाचार्य ने इन मन्त्रों के निम्न अर्थ किये हैं:—

(१) नृमेधं एतन्नामकमृषिम्। (ऋ० १०। ८०। ३)

(२) नृमेधः मम पिता।......नृमेधस्य पुत्रः शकपूतोऽहं पापात् युवाभ्यां तत्रे रक्षितोऽस्मि। (ऋ० १०। १३२। ७)

ग्रिफिथ का अर्थ यह है:—

(१) Made *Nrimedha* rich (X-80-3)

सौधातकि—मैं तो समझा कि कोई शेर या भेड़िया आ गया।

दण्डायन—ऐसा क्यों कहते हो?

सौधातकि—अरे इसने आते ही विचारी कपिला गाय को चट कर लिया।

दण्डायन—शास्त्र का आदर करने वाले श्रोत्रिय लोग महमान के लिये मांस युक्त मधुपर्क देते हैं। इस मधुपर्क में धर्मात्मा गृहस्थी गाय, बैल, बकरे आदि की बलि देते हैं। धर्म सूत्रों के लिखने वालों ने इसको धर्म बताया है।

(२) They are disheartened tribes, *Nrimedha* saved from woe, *Sumedha* saved from woe.

विलसन लिखते हैं :—

(१) Agni furnished *Nrimedha* with progeny. (X-80 3)

(२) *Nrimedha* was preserved (by you) from sin. (X-132-7)

दूसरे मन्त्र में सुमेध शब्द आया है।

सायण ने इसका अर्थ किया है "*अन्योऽपि सुयज्ञो यजमानः*"। यहाँ सायण ने 'सुमेध' को संभवतः व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानकर इसके यौगिक अर्थ किये हैं। मैं 'संभवतः' इसलिये कहता हूँ कि भाषा स्पष्ट नहीं है। ग्रिफिथ ने 'सुमेध' को 'सुमेध' (Sumedha) बड़े एस् (S) से लिख कर व्यक्तिवाचक माना है। विलसन ने 'सुमेध' का अर्थ 'pious worshipper' किया है।

यदि 'नृमेध' का यौगिक अर्थ लिया जाय तो 'नृ' का अर्थ होगा नेतृ' (नेता) और 'मेध' का अर्थ होगा 'बुद्धि'। अर्थात् 'वह पुरुष जो नेता होने की बुद्धि रखता हो'। ऐसा ही पुरुष 'सुमेध' अर्थात् 'सुबुद्धि' होगा। ऋषि दयानन्द के मतानुसार यह अर्थ सर्वथा युक्ति तथा प्रमाण के अनुकूल होगा।

यदि यह सिद्ध हो जाय कि ऋग्वेद में प्रचरित अश्वमेध यज्ञ, अश्व को छोड़ने, उसके बलि देने का संकेत भी नहीं है, तो यह मानना कठिन नहीं रहता कि अन्य पीछे की पुस्तकों में

जो 'अश्वमेध' की या उसके समान 'नृमेध' और 'गोमेध' की कल्पना की गई, वह सर्वथा अवैदिक और वैदिक धर्म को कलंकित करने वाली है। इस भ्रान्ति के ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा साहित्यिक कारण खोजे जा सकते हैं। गवेषक लोगों के लिये यह एक अच्छा विषय है। इससे वैदिक संस्कृति के ऊपर पड़ी हुई धूलि का संमार्जन होगा और हम एक बड़ी भ्रान्ति को दूर कर सकेंगे।

इसके साथ ही एक बात और विचारणीय है। 'अहिंसा' वैदिक संस्कृति का मूल स्तम्भ है। 'वैदिकी हिंसा' इस सिद्धांत का खण्डन कर देती है। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने बौद्ध धर्म और जैन धर्म की स्थापना का प्रयास 'अहिंसा' के सिद्धान्त पर ही आधारित किया था, और वैदिक धर्म के उस समय के अनुयायियों की यज्ञ पद्धति को देखकर उन्होंने यज्ञ और वेद दोनों से मुंह मोड़ लिया। जिन लोगों को वेद प्यारे थे उन्होंने वेदों का पुनरुद्धार करते हुये भी वेदों के मुख से इस कलंक के टीके को न मिटाया। कुमारिल भट्ट आदि को अनेक प्रकार की जटिल व्याख्या करनी पड़ी। स्वामी दयानन्द को यह श्रेय है कि वैदिक संस्कृति का मुख उज्जवल कर दिया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि मानव जाति का कल्याण वेदों को त्यागने में नहीं है, अपितु वेदों का सत्य अर्थ करने में है। जल के बिना प्यास तो नहीं बुझ सकती। हाँ यदि जल गंदला हो गया है तो उसको छानना आवश्यक है।

कुछ मंत्र जिनसे गोवध झलकता है

(१) त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः। अष्टापदीभिराहुतः॥ (ऋग्वेद २।७।५)

सायण—*हे भारत ऋत्विजां पुत्रस्थानीय अग्ने नः अस्मदीयः त्वं वशाभिः वन्ध्याभिगोभिः उक्षभिः सेक्तृभिर्बलीवर्दैः अष्टापदीभिः गर्भिणीभिश्च अहुतः आराधितः असि।*

राम गोविन्द त्रिवेदी—भरणकर्ता अग्नि। तुम हमारे हो। वन्ध्या गौ वृष और गर्भिणी गौ द्वारा आहुत हुये हो।

दयानन्द—(त्वं) (नः) अस्मभ्यं (असि) भवसि। (भारत) धारक (अग्ने) विद्वन् (वशाभिः) कमनीयाभिर्गोभिः (उक्षभिः) वृषभैः (अष्टापदीभिः) अष्टौपादौ यासां ताभिर्वाग्भिः (आहुतः) आमन्त्रितः।

भावार्थ—हे विद्वन्! आप हमारे पोषक हैं। हम गाय, बैल आदि पशुओं का दान करके तथा शुभ वचनों द्वारा आपका सत्कार करते हैं।

(२) ओजिष्ठं ते मध्यतो मेद उद्भृतं प्र ते वयं ददामहे। श्चोतन्ति ते वसो स्तोका अधि त्वचि प्रति तान् देवशो विहि॥

(ऋग्वेद ३।२१।५)

सायण—*हे अग्ने ओजिष्ठम् अतिशयेन सारयुक्तं मेदः वपाख्यं हविः मध्यतः पशोर्मध्यभागात् ते त्वदर्थं उद्भृतम् उद्धृतं अध्वर्य्वादयः वयं अस्मिन् पशौ ते तुभ्यं प्रददामहे उद्धृतं तद्वपाख्यं हविः प्रयच्छामः। वसो सर्वस्य जगतो वासयितर्हे अग्ने त्वचि अधि*

वपायामुपरि ये स्तोकाः घृतमिश्रा विन्दवस्ते ते त्वदर्थं श्चोतन्ति स्रवन्ति तान् स्तोकान् देवशः देवेषु प्रति विहि प्रत्येकं विभजस्व ।

राम गोविन्द त्रिवेदी—अग्नि देव ! हम अतीव सारयुक्त मेद, पशु के मध्य भाग से उठाकर तुम्हें देंगे । निवास प्रद अग्नि, चमड़े के ऊपर जो सब विन्दु तुम्हारे लिये गिरते है वे देवों में से प्रत्येक को विभाजन करके देदो ।

दयानन्द—(ओजिष्ठं) *अतिशयेन बलिष्ठं* (ते) *तव* (मध्यतः) (मेदः) *स्नेहः* (उद्भृतं) *उत्कृष्टतया धृतम्* । (प्र) (ते) *तुभ्यं* (वयं) (ददामहे) । (श्चोतन्ति) *सिञ्चन्ति* (ते) *तव* (वसो) *वासहेतो* (स्तोकाः) *स्तावकाः* (अधि) *उपरिभागे* (त्वचि) (प्रति) (तान्) (देवशः) *देवान्* (विहि) *प्राप्नुहि* ।

भावार्थ—वसो, हम शुद्ध घी की आहुति देते हैं । स्तुतियों के साथ । आप देवों तक इनको पहुँचावें ।

(३) यत् संवत्समृभवो गामरक्षन् यत् संवत्समृभवो मा अपिंशन् । यत् संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः ।

इस मन्त्र की व्याख्या पहले हो चुकी है । (देखो अध्याय ५, पृष्ठ ८६)

(४) वर्धान्यं विश्वे मरुतः सजोषाः पचच्छतं महिषां इन्द्र तुभ्यम् । पूषा विष्णुस्त्रीणिसरांसि धावन् वृत्रहणं मदिरमंशुमस्मै ।

(ऋग्वेद ६ । १७ । ११)

सायण—*सजोषाः सहप्रीयमाणाः विश्वे मरुतः सर्वे देवाः हे इन्द्र यं त्वां वर्धान् स्तोत्रैः वर्धयन्ति । हे इन्द्र तस्मै तुभ्यं पूषा एतना-*

मको देवः विष्णुः एतन्नामकश्च शतं शत संख्याकान् महिषान् पुंपशून् पचत् पचेत् । इत्यादि ।

रामगोविंद त्रिवेदी—हे इन्द्र ! सम्पूर्ण मरुद्‌गण समान प्रीति-भाजन होकर स्तोत्र द्वारा तुम्हें वर्धित करते हैं । तुम्हारे निमित्त पूषा तथा विष्णु देव शत संख्यक महिषों का पाक करते हैं......।

दयानन्द—(वर्धान्) वर्धयेरन् (यम्) (विश्वे) सर्वे (मरुतः) मनुष्याः (सजोषाः) समान प्रीति सेविनः (पचत्) पचेत् (शतम्) शत संख्याकान् (महिषान्) महतः । महिष इति महन्नाम । (निघं० ३ । ३), (इन्द्र) सूर्य इव वर्तमान राजन् । (तुभ्यम्) (पूषा) पुष्टिकर्ता (विष्णुः) व्यापको विद्युद्रूपः (त्रीणि) (सरांसि) सरन्तियेषु तानि अन्तरिक्षादीनि (धावन्) धावन् सन् (वृत्रहणम्) यो वृत्रं मेघं सूर्य्य इव शत्रून् हन्ति (मदिरम्) हर्षकरम् (अंशुम्) विभक्तम् (अस्मै) ।

अन्वयः—हे इन्द्र ! सजोषा विश्वे मरुतो यं त्वां वर्धान् यः पूषा धावन् विष्णुस्त्रीणि सरांसि व्याप्नोति तथा धावन्नस्मै मदिरमंशुं वृत्रहणमिव शत्रून हन्ति यस्तुभ्यं शतं महिषान् ददाति यश्च परोपकारार्थं पचत् तं यूयं विजानीत ।

भावार्थ—यथा प्रजाजना राजानं राज्यं च वर्धयेयुस्तथा राजैतान् सततं वर्धयेत् ।

'सौ बड़े पदार्थों को देता है', 'परोपकार के लिये पाक करे' ।

यहाँ स्वामी दयानन्द ने 'महिषान्' का निघण्टु के आधार पर तरलतम 'बड़ा' अर्थ किया है । सायण इस आधार को अस्वी-

कार नहीं करते। ऋग्वेद (८। १२। ८) में भी 'सहस्रंमहिषान्' के बध का उल्लेख करते हुये सायण ने '*महतोऽसुरान् वृत्रादीन्*' अर्थ किया है। अर्थात् इन्द्र सहस्रों शत्रुओं या असुरों को मारता है। यदि ऋग्वेद (६।१७।११) में भी 'महिषान्' का अर्थ दुष्टान् शत्रून् या असुरान् करते तो भैंसों के पकाने को प्रश्न न उठता। परन्तु सायण ने 'पुंपशून्' अर्थ करके अनावश्यक आक्षेप उत्पन्न कर दिया। रामगोविंद त्रिवेदी ने इस उलझन को अनुभव किया। परन्तु वह विचारे करते भी क्या! सायण का अनुकरण और उनके दृष्टिकोण का अनुकरण। अतः उन्होंने 'शत संख्यक महिषों का पाक करते हैं' ऐसा अर्थ कर लिया। 'महिष' शब्द को खोला नहीं। ग्रिफिथ महोदय ने तो ऋ० (८। १२। ८) के अर्थ में भी 'eat a thousand buffaloes' (एक हजार भैंसों को खाने) का अर्थ किया है।

ऋग्वेद मंडल ८, सूक्त ७७ मंत्र १० में 'शतं महिषान्' ऐसा शब्द आया है। ग्रिफिथ ने 'सौ भैंसे' (A hundred buffaloes) अर्थ किया है। रामगोविंद त्रिवेदी ने ग्रिफिथ के अनुकरण में 'शतं महिषान्' का अर्थ 'सौ महिषों (पशुओं)' किया है। अर्थात् इन्द्र सौ भैंसे खाता है। पता नहीं कि कहीं हजार भैंसों का और कहीं केवल एक बिन्दु छोड़कर 'सौ भैंसों' का उल्लेख कैसे किया गया। परन्तु वास्तविक बात यह है कि मंत्र को समझने का यत्न ही नहीं किया गया। अंग्रेज विद्वान तो करते क्यों ? उनके देश में तो गायों या भैंसों का मारना साधारण बात है। संख्या का

प्रश्न है। परन्तु सायण आदि की समझ में नहीं आया। आज-कल के सायण के पैर पर पैर रखने वाले सनातनधर्मी पण्डितों की तो कथा ही क्या। सायण ने इस मंत्र (८। ७७। १०) पर दो प्रकार के अर्थ किये हैं।

'अस्या ऋचो नैरुक्तैतिहासिक मत भेदेन द्विधायोजना'।

अर्थात् निरुक्त और इतिहास दो भिन्न-भिन्न आधारों पर मंत्र के दो अलग-अलग अर्थ हैं।

पूरा-पूरा अर्थ देने से सुविज्ञ पाठकों को लाभ होगा। अतः हम पूरा अर्थ देते हैं। मंत्र निम्न है—

विश्वेत् ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्।

सायण भाष्यम् :—

नैरुक्तपक्षे तावत्। हे इन्द्र (ता) तानि यानि त्वया स्रष्टव्यानि उदकानि सन्ति तानि (विष्णुः) व्यापन शील आदित्यः (आभरत्) आभरति। लोकाय प्रयच्छति इत्यर्थः। की दृषो विष्णुः (उरुक्रमः) बहुगतिः। किं स्वविरोधेन ? नेत्याह। (त्वेषितः) त्वया प्रेरितः। न केवलं उदकानि एवं अपि च (शतं महिषान्) शत संख्याकान् पशून्। महिष शब्दो गवादेरपि उपलक्षकः, अथवा शत शब्दो महतो यज्ञान् यजमानेभ्य आभरत् ददाति इत्यर्थः। किंच (क्षीर पाकम्) क्षीर पकम् (ओदनं) पायसम्। एतच् चरुपुरोडाशादेरुपलक्षणाम्। तद् यजमानेभ्य आभरत्। अथवा सर्वार्थ वृष्टि-प्रदान द्वारा ओदनं आहरत्। किन्तु (इन्द्रः) (वराहं) जल-

पूर्ण मेघं हन्तीति शेषः। कीदृशं तम्? आ इत्यस्य स्थाने छान्दस एकारः। आमुषम् उदकस्य मोषकम् इत्यर्थः।

यहाँ इतनी बातों का पता चलता है—

१—विष्णु अर्थात् सूर्य न केवल जल अपितु सैकड़ों पशुओं को जीवन भी देता है, सौ भैंसों को खाने की बात चली गई।

२—'शतं महिषान्' का अर्थ है सौ बड़े-बड़े कार्य या यज्ञ जिनमें पायस, पुरोडाश आदि पकाये जाते हैं। यहाँ 'महिष' का अर्थ भैंसा नहीं अपितु 'यज्ञ' है।

३—'वराह' का अर्थ 'सुअर' नहीं 'मेघ' है। जो जल से पूर्ण है।

स्वयं सायण के अर्थ से 'सुअर' का अवतार उड़ जाता है।

परन्तु सायण ने '*ऐतिहासिक पक्षे चरक ब्राह्मण इतिहास आम्नायते*' अर्थात् अपनी पुरानी लकीर की फकीरी से चरक ब्राह्मण के आधार पर एक कहानी बना ली। उसके अनुसार 'विष्णु' का अर्थ यज्ञ किया और 'शतं महिषान्' के दो अर्थ किये :—

(१) *अपरिमितान् प्रशस्तान् पदार्थान्।* बहुत से उत्तम पदार्थ।

(२) *तेषां वाहनरुपान् महिषान्।* वाहन रूप (ढोने वाले) भैंसे।

(३) 'वराह' का अर्थ 'वराहार' या असुर किया है।

'महिष' शब्द वेदों में कई स्थानों पर आया है।

यहाँ हमने केवल उदाहरण रूप वह मंत्र दिये हैं जिनमें कहा है कि इन्द्र सौ-सौ, हजार-हजार भैंसे मार कर खा जाता है।